समर्पण।

श्रीमान् प्रवर्त्तक कान्तिविजयजी !

आपके प्रति मेरी अनन्य-साधारण पूज्य बुद्धि है, इसका कारण न तो स्वार्थ ही है और न अंधश्रद्धा; आपके विद्यानुराग, शास्त्रप्रेम और निरवद्य साधुभावसे मैं आकर्षित हुआ हूं-इसीसे यह पुस्तक आप के करकमलोंमें सादर समर्पित करता हूं.

आपका सेवक,—

सुखलाल.

विषयानुक्रमणिका.

—o-o-o—

परिचय.

पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत पुस्तक उपस्थित करते हुए इसका संक्षेपमें परिचय कराना जरूरी है। शुरूमें प्रस्तावना रूपसे योगदर्शन पर एक विस्तृत निबन्ध दे दिया गया है जिसमें योग तथा योग-सम्बन्धी साहित्य आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों पर सप्रमाण विचार किया गया है। तत्पश्चात् इस पुस्तकमें मुख्यतया योगसूत्रवृत्ति और सटीक योगविंशिका इन दो ग्रन्थोंका संग्रह है, तथा साथमें उनका हिंदी सार भी दिया हुआ है। अतएव उक्त दोनों ग्रन्थोंका, उनके कर्ता आदिका तथा हिंदी सारका कुछ परिचय कराना आवश्यक है, जिससे वाचकोंको यह मालुम हो जाय कि ये ग्रन्थ कितने महत्त्वपूर्ण हैं, और इनके कर्ताका स्थान कितना उच्च है। साथ ही यह भी विदित हो जाय कि मूल ग्रन्थोंके साथ उनका हिंदी सार देनेसे हमारा क्या अभिप्राय है। आशा है इस परिचयको ध्यानपूर्वक पढनेसे वाचकोंकी रुचि उक्त दो ग्रन्थोंकी ओर विशेष रूपसे उत्तेजित होगी, ग्रन्थकर्ताओंके प्रति बहुमान पैदा होगा। और हिंदी सार देख कर उससे मूल ग्रन्थके भावको समझ लेनेकी उचित आकांक्षा पैदा होगी।

(१) योगसूत्रवृत्ति—यह वृत्ति योगसूत्रोंकी एक छोटी सी टिप्पणिरूप व्याख्या है। योगसूत्रोंमें सांगोपांग योगप्रक्रिया है, जो सांख्य-सिद्धान्तके आधार पर लीखी गई है। उन सूत्रोंके ऊपर सबसे प्राचीन और सबसे अधिक महत्त्वकी टीका महर्षि व्यासका भाष्य है। यह प्रसन्न गंभीर और विस्तृत भाष्य सांख्य सिद्धान्तके अनुसार ही रचा गया है, पर वृत्ति जैन प्रक्रियाके अनुसार रची गई है। अतएव जिस जिस

विषयमें सांख्य और जैन शास्त्रका मत-भेद है तथा जिस जिस विषयमें मतभेद न होकर सिर्फ वर्णन-पद्धति या सांकेतिक शब्द मात्रका भेद है उस उस विषयके वर्णनवाले सूत्रोंके ऊपर ही वृत्तिकारने वृत्ति लीखी है, और उसमें भाष्यकारके द्वारा निकाले गये सूत्रगत आशयके ऊपर जैन प्रक्रियाके अनुसार या तो आक्षेप किया है या उस आशयके साथ जैन मन्तव्यका मिलान किया है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि यह वृत्ति योगदर्शन तथा जैन दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तोंके विरोध और मिलानका एक छोटा सा प्रदर्शन है । यही कारण है कि प्रस्तुत वृत्ति सब योगसूत्रोंके ऊपर न हो कर कतिपय सूत्रोंके ऊपर ही है। योगसूत्रोंकी कुल संख्या १९५ की है और वृत्ति सिर्फ २७ सूत्रोंके ऊपर ही है। सब सूत्रोंकी वृत्ति न होने पर भी प्रस्तुत पुस्तकमें हमने सूत्र तो सभी दे दिये हैं पर भाष्य तो सिर्फ उन्हीं सूत्रोंका दिया है जिन पर वृत्ति है। ऐसा करनेके मुख्य दो कारण हैं (१) सूत्रोंका परिमाण वडा नहीं है और (२) वृत्ति पढनेवालेको कमसे कम मूल सूत्रोंके द्वारा भी संपूर्ण योगप्रक्रियाका ज्ञान करना हो तो इसके लिए अन्य पुस्तक ढूँढनेकी आवश्यकता न रहे। इसके विपरीत भाष्यका परिमाण बहुत वडा है और वह कई जगह अच्छे ढंगसे छप भी चुका है। यद्यपि वृत्ति पढनेवालेको योगदर्शनके मौलिक सिद्धान्त जानने हों तो उसका वह उद्देश्य भाष्य विना देखे भी सिद्ध हो सकता है । फिर भी वृत्तिवाले सूत्रोंका उपयोगी भाष्य उस उस सूत्रके नीचे इस लिए दिया है कि वृत्ति समझनेमें पाठकोंको अधिक सुभीता हो, क्योंकि वृत्तिकारने भाष्यकारके आशयको ध्यानमें रख कर ही अपनी वृत्तिमें अर्थ सूचक मतभेद और ऐकमत्य दिखाया है। केवल जैन दर्शनको जाननेवाले संकुचित दृष्टिके कारण यह नहीं जानते

कि अन्य दर्शनके साथ जैन दर्शनका किस किस सिद्धान्तमें कितना और कैसा वास्तविक मतभेद या मतैक्य है । इसी प्रकार केवल वैदिक दर्शनको जाननेवाले विद्वान् भी एकदेशीय दृष्टिके कारण यह नहीं जानते कि जैन दर्शन किन किन बातोंमें वैदिक दर्शनके साथ कहाँ तक और किस प्रकार मिल जाता है । इस पारस्परिक अज्ञानके कारण दोनों पक्षके विद्वान् तक भी बहुधा, एक दूसरेके ऊपर आदर रखना तो दूर रहा, अनुचित हमला किया करते हैं, जिससे साधारण वर्गमें भ्रम फैल जाता है और वे खंडन मंडनमें ही अपनी शक्तिका खर्च कर डालते हैं; इस विषमताको दूर करनेके लिए ही यह वृत्ति लिखी गई है । यही कारण है कि इसका परिमाण बहुत छोटा होने पर भी इसका महत्त्व उससे कई गुना अधिक है । जैन दर्शनकी भित्ति स्याद्वाद सिद्धान्तके ऊपर खडी है । प्रामाणिक अनेक दृष्टियोंके एकत्र मिलानको ही स्याद्वाद कहते हैं । स्याद्वाद सिद्धान्तका उद्देश्य इतना ही है कि कोई भी समझदार व्यक्ति किसी वस्तुके विषयमें सिद्धान्त निश्चित करते समय अपनी प्रामाणिक मान्यताको न छोडे परन्तु साथ ही दूसरोंकी प्रामाणिक मान्यताओंका भी आदर करे । सचमुच स्याद्वादका सिद्धान्त हृदयकी उदारता, दृष्टिकी विशालता, प्रामाणिक मतभेदकी जिज्ञासा और वस्तुकी विविध-रूपताके खयाल पर ही स्थिर है । प्रस्तुत वृत्तिके द्वारा उसके कर्त्ताने उक्त स्याद्वादका मंगलमय दर्शन योग्य जिज्ञासुओंके लिए सुलभ कर दिया है । हमें तो यह कहनेमें तनीक भी संकोच नहीं है कि प्रस्तुत वृत्ति जैन और योग दर्शनके मिलानकी दृष्टिसे गंगा यमुनाका संगमस्थान है, जिसमें मतभेदरूप जलका वर्ण भेद होने पर भी दोनोंकी एकरसता ही अधिक है ।

वृत्तिके महत्त्वका पूरा खयाल उसको मनन पूर्वक उदार दृष्टिसे पढने पर ही आसकता है।

(२) योगविंशिका—यह मूल ग्रन्थ प्राकृतमें है। इसका परिमाण और विषय इसके नामसे प्रसिद्ध है, अर्थात् यह वीस गाथाओंका योग सम्बन्धी एक छोटा सा ग्रन्थ है। इसके प्रणेताने वीस वीस गाथाओंकी एक एक विंशिका ऐसी वीस[1] विंशिकाएँ रची हैं, जो सभी उपलब्ध हैं। उनमें प्रस्तुत योगविंशिकाका सत्रहवाँ नंबर है, इसमें योगका वर्णन है।

इसके प्रणेताके संस्कृत भाषामें भी जैन दृष्टिके अनुसार योग पर बनाये हुए योगबिंदु, योगदृष्टिसमुच्चय और षोडशक ये तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जो छप चूके हैं। इसके सिवाय उनका बनाया हुआ योगशतक नामका ग्रन्थ भी सूना जाता है। एक ही कर्ताके द्वारा एक ही विषय पर लिखे गये उक्त चारों ग्रन्थोंकी वस्तु क्या क्या है और उसमें क्या समानता तथा क्या असमानता है इत्यादि कई प्रश्न वाचकोंके दिलमें पैदा हो सकते हैं जिनका पूरा उत्तर तो वे उक्त ग्रन्थोंके अवलोकन के द्वारा ही पा सकेंगे, फिर भी हमने प्रस्तुत पुस्तकमें इसका अलग सूचन किया है जिसके लिए हम पाठकोंका ध्यान प्रस्ता-

---

१ वीस वीसीयोंके नाम इस प्रकार हैं—१ अधिकारविंशिका, २ अनादिविंशिका, ३ कुलनीतिलोकधर्मविंशिका, ४ चरमपरावर्त्तविंशिका, ५ बीजादिविंशिका, ६ सद्धर्मविंशिका, ७ दानविधिविंशिका, ८ पूजाविधिविंशिका, ९ श्रावकधर्मविंशिका, १० श्रावकप्रतिमाविंशिका, ११ यतिधर्मविंशिका, १२ शिक्षाविंशिका, १३ भिक्षाविंशिका, १४ तदन्तरायशुद्धिलिङ्गविंशिका, १५ आलोचनाविंशिका, १६ प्रायश्चित्तविंशिका, १७ योगविधानविंशिका, १८ केवलज्ञानविंशिका, १९ सिद्धविंशिका, २० सिद्धसुखविंशिका।

चना पृष्ठ ५९ परके "आचार्य हरिभद्रकी योगमार्गमें नवीन दिशा" नामक पेरेकी ओर खींचते हैं ।

योगविंशिकाकी योगवस्तुका स्थूल परिचय तो पाठक वहींसे कर लेवें, पर उसमें एक सामाजिक परिस्थितिका चित्रण है जिसका निर्देश यहाँ करना उपयुक्त है.

हर एक देश, हर एक जाति और हर एक समाजमें धार्मिक गुरुओंकी तरह धर्मधूर्त गुरुओंकी भी कमी नहीं होती। वैसे नामधारी गुरू भोले शिष्योंको धर्मनाशका भय दिखा कर धर्मरक्षाके निमित्त अपने मनमाने ढँगसे धर्मक्रियाका उपदेश देते हैं और धर्मकी ओटमें शास्त्रविरुद्ध व्यवहारका प्रवर्तन कराया करते हैं, ऐसे धर्मढोंगी गुरुओंकी खबर जैसे [1]आवश्यक-निर्युक्तिमें श्रीभद्रबाहुस्वामीने ली है वैसे बहुत संक्षेपमें पर मार्मिक रीतिसे योगविंशिकामें भी ली गई है । उसमें वैसे पाखंडिओंको संबोधित करके कहा गया है कि "संघ या जैन-तीर्थ मनमाने ढँगसे चलनेवाले मनुष्योंके समुदाय मात्रका नाम नहीं है, ऐसा समुदाय तो संघ नहीं किन्तु हड्डिओंका ढेर मात्र है । सच्चा जैन-तीर्थ या महाजन तो शास्त्रानुकूल चलने वाला एक व्यक्ति भी हो सकता है। इसलिए तीर्थरक्षाके नामसे अशुद्ध प्रथाको जारी रखना यही वास्तवमें तीर्थनाश है, क्योंकि शुद्ध धर्मप्रथाका नाम ही तीर्थ है जो अशुद्ध धर्मप्रथासे नष्ट हो जाता है" । इसके सिवाय योगविंशिकाके अन्तिम भाग-में रूपी, अरूपी ध्यानका भी अच्छा वर्णन है । यह ग्रन्थ छोटा होनेसे इसमें जो कुछ वर्णन है वह संक्षिप्त ही है, पर इसकी संस्कृत टीका जो इस ग्रन्थके साथ ही दे दी गई है वह बहुत

---

१ देखो वंदनकनिर्युक्ति गाथा. ११०९ से ११९३ ।

स्पष्ट और सर्वांग परिपूर्ण है। मूलपर उसकी टीकामें टीकाकारने पूरा प्रकाश डाला है, जिसका पुरा परिचय तो उस टीकाके देखनेसे ही हो सकेगा।

पाठकोंसे हमारा अनुरोध है कि वे योगविंशिकाकी टीकाको पढकर टीकाकारकी बहुश्रुतगामिनी बुद्धि और अनेकशास्त्रदोहनका थोडे ही में आस्वाद लेवें।

ग्रन्थकर्त्ता—ऊपर जिस वृत्तिका परिचय कराया गया है, उसके रचयिता जैन विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी हैं। योगविंशिकाकी टीकाके कर्ता भी वे ही हैं। वृत्तिके मूलरूप योगसूत्रके प्रणेता वैदिक विद्वान् महर्षि पतञ्जलि हैं और मूल योगविंशिकाके रचयिता जैन विद्वान् आचार्य हरिभद्र हैं। इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकर्तारूपसे उक्त तीन व्यक्तिओंका परिचय कराना आवश्यक है।

(१) पतञ्जलि—इनके जन्मस्थान, माता, पिता, समय आदिके विषयमें विद्वानोंने वहुत ऊहापोह किया है पर अभीतक यही निश्चित नहीं हुआ कि योगसूत्रकार पतञ्जलि, पाणिनीय व्याकरणसूत्र पर भाष्य रचनेवाले महाभाष्यकार-नामसे प्रसिद्ध पतञ्जलिसे जुदा थे या दोनों एक ही थे। महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतञ्जलिकी भिन्नता या एकताके सम्वन्धमें आजतक कीगई खोजोंसे अधिक विचार प्रदर्शित करनेके लिए न तो हमने पर्याप्त अवलोकन ही किया है और न उसकी अधिक गवेषणा करनेके लिए अभी हमें समय ही प्राप्त है, इसलिए इस विषयके जिज्ञासुओंके लिए हम सरल भावसे अन्य विद्वानोंकी गवेषणाओंको देखनेकी ही सिफारिश करते हैं।

हम अन्य इतिहासज्ञ [1]विद्वानोंके इस अनुमानके आधार पर सिर्फ संतोष मान लेते हैं कि योगसूत्रकार यदि महाभाष्यकार ही थे तो उनका समय इ. पूर्व दूसरी शताब्दी माना जाना चाहिए और यदि दोनों भिन्न थे तो योगसूत्रकार पतञ्जलिका समय इ. के बाद दूसरीसे चौथी शताब्दी तकमें माना जाना चाहिए। अस्तु ! पतञ्जलिके बाह्य आवरणको निश्चित रूपसे जाननेका साधन अभी पूर्णतया प्राप्त न होने पर भी इनकी विचार-आत्माका साक्षात् दर्शन योगसूत्रमें हो ही जाता है जो कम सौभाग्यकी बात नहीं है। इनकी आत्मा इतना काल बीत जाने पर भी योगसूत्रोंमें जागती है। जिसके पास एक बार आनेवाला पाषाण हृदय व्यक्ति भी सिर झुकाये बिना, किंबहुना दासानुदास हुए बिना नहीं रह सकता। इनके योग-सूत्रका थोडेमें परिचय करनेके अभिलाषिओंका ध्यान हम प्रस्तावना पृष्ठ ३८ पर 'योगशास्त्र' शीर्षक पेरेकी ओर खींचते हैं और इनके महर्षिपनका परिचय करनेकी इच्छावालोंका लक्ष्य "महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता" शीर्षक भागकी ओर खींचते है प्रस्तावना पृ. ४६.

(२) हरिभद्र—इस नामके श्वेताम्बर संप्रदायमें अनेक आचार्य हुए हैं। पर योगविंशिकाके कर्ता प्रस्तुत हरिभद्र उन सबमें पहले है जो याकिनि महत्तरा सूनुके नामसे और १४४४ ग्रन्थप्रणेताके रूपसे प्रसिद्ध हैं उनका समय वि. की [2]आठवीं नववीं शताब्दी अभी निर्णय किया गया है। उनके जीवनका हाल अभी तक जो कुछ [3]प्रकट हुआ है उसकी अपेक्षा अधिक

१ देखो वुड अनुवादित योगदर्शनकी इंग्लीश प्रस्तावना। २ देखो श्रीजिन-विजयजी लिखित हरिभद्रसूरिका समयनिर्णय जैन साहित्यसंशोधक अंक १। ३ देखो पं. हरगोविंददास लिखित जीवनचरित्र।

लिखनेकी अभी हमारी तैयारी नहीं है, अलबत्ते यह हमारा खयाल हुआ है कि उनके जीवन पर पूरा प्रकाश डालनेके वास्ते जैसा चाहिए वैसा उनके ग्रन्थोंका गहरा अवलोकन अभीतक किसीने नहीं किया है वैसा अवलोकन करके निश्चित सामग्रीके आधार पर विशेष लिखनेकी हमारी हार्दिक इच्छा है। परंतु ऐसा सुयोग कब आवेगा यह कहा नहीं जा सकता। अतएव अभीतकके उनके ग्रन्थोंके अवलोकनसे उत्पन्न हुए भावको सिर्फ एक, दो वाक्योंमें जना देना ही समुचित है।

जैन आगमों पर सबसे पहले संस्कृतमें टीका लिखनेवाले, भारतीय समग्र दर्शनोंका सबसे पहले वर्णन करनेवाले, जैन शास्त्रके मूल सिद्धान्त अनेकान्तपर तार्किक रीतिसे व्यवस्थित रूपमें लिखनेवाले और जैन प्रक्रियाके अनुसार योगविषय पर [1]नई रीतिसे लिखनेवाले ये ही हरिभद्र हैं। इनकी प्रतिभाने विविध विषयके जो अनेक ग्रन्थ उत्पन्न किये हैं उनसे केवल जैन साहित्यका ही नहीं किन्तु भारतीय संस्कृत, प्राकृत साहित्यका मुख उज्ज्वल है।

---

१ यह कथन उपलब्ध ग्रन्थोंकी अपेक्षासे समझना। अन्यथा हरिभद्रसूरिके पहले भी योगविषय पर लिखनेवाले विशिष्ट जैनाचार्य हुए हैं, जिनके अनेक वाक्योंका अवतरण देते हुए हरिभद्रसूरिने योगदृष्टि समुच्चयकी टीकामें ' योगाचार्य ' इस प्रतिष्ठासूचक नामसे उल्लेख किया है. इसके लिए देखो यो० स० श्लो० १४, १९, २२, २५ आदिकी टीका.

अवतरण वाक्योंसे साफ जान पडता है कि ' योगाचार्य जैनाचार्य ही थे। यह नहीं कहा जा सकता है कि वे श्वेताम्बर थे या दिगम्बर। उनका असली नाम क्या होगा सो भी मालूम नहीं, इसके लिए विद्वानोंको खोज करनी चाहिए। सम्भव है उनके किसी ग्रन्थकी उपलब्धिसे या अन्यत्र उद्धृत विशेष प्रमाणसे अधिक बातोंका पता चले. '।

इनके बनाये हुए जो '१४४४' ग्रन्थ कहे जाते हैं वे सब उपलब्ध नहीं हैं परन्तु आज जितने उपलब्ध हैं वे भी हमारे लिए तो सारी जिन्दगी तक मनन करने और शास्त्रीय प्रत्येक विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पर्याप्त हैं।

यशोविजय—ये विक्रमकी सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दीमें हुए हैं। इनका इतिहास अभीतक जो कुछ प्रकाशित हुआ है वह पर्याप्त नहीं है। इनके विशिष्ट इतिहासके लिए इनके सभी ग्रन्थोंका सांगोपांग बारीकीके साथ अवलोकन आवश्यक है। इसके लिए समय और स्वास्थ्य चाहिए जो अभी तो हमारे भाग्यमें नहीं है पर कभी इस कामकी तैयारी करनेकी ओर बहुत लक्ष्य रहता है। अस्तु अभी तो वाचक-यशोविजयका परिचय इतनेहीमें कर लेना चाहिए कि उनकी सी समन्वयशक्ति रखनेवाला, जैन जैनेतर मौलिक ग्रन्थोंका गहरा दोहन करनेवाला, प्रत्येक विषयकी तह तक पहुँच कर उस पर समभावपूर्वक अपना स्पष्ट मन्तव्य प्रकाशित करनेवाला, शास्त्रीय व लौकिक भाषामें विविध साहित्य रच कर अपने सरल और कठिन विचारोंको सब जिज्ञासु तक पहुंचानेकी चेष्टा करनेवाला और सम्प्रदायमें रह कर भी सम्प्रदायके बंधनकी परवा न कर जो कुछ उचित जान पडा उस पर निर्भयता पूर्वक लिखनेवाला, केवल श्वेताम्बर, दिगंबर समाजमें ही नहीं बल्कि जैनेतर समाजमें भी उनका सा कोई विशिष्ट विद्वान् अभी तक हमारे ध्यानमें नहीं आया। पाठक स्मरणमें रक्खें यह अत्युक्ति नहीं है। हमने उपाध्यायजीके और दूसरे विद्वानोंके ग्रन्थोंका अभीतक जो अल्प मात्र अवलोकन किया है उसके आधार पर तोल नापकर ऊपरके वाक्य लिखे हैं। निःसन्देह श्वेताम्बर और दिगम्बर समाजमें अनेक बहुश्रुत विद्वान् हो गये हैं, वैदिक तथा बौद्ध सम्प्रदायमें भी प्रचंड

विद्वान्‌की कमी नहीं रही है; खास कर वैदिक विद्वान् तो सदाहीसे उच्च स्थान लेते आये हैं, विद्या मानों उनकी बपौती ही है; पर इसमें शक नहीं कि कोई बौद्ध या कोई वैदिक विद्वान् आज तक ऐसा नहीं हुआ है जिसके ग्रन्थके अवलोकन से यह ज्ञान पड़े कि वह वैदिक या बौद्ध शास्त्रके उपरान्त जैन शास्त्रका भी वास्तविक गहरा और सर्वव्यापी ज्ञान रखता हो। इसके विपरीत उपाध्यायजीके ग्रन्थोंको ध्यानपूर्वक देखने-वाला कोई भी बहुश्रुत दार्शनिक विद्वान् यह कहे विना नहीं रहेगा कि उपाध्यायजी जैन थे इसलिए जैनशास्त्रका गहरा ज्ञान तो उनके लिए सहज था पर उपनिषद्, दर्शन आदि वैदिक ग्रन्थोंका तथा बौद्ध ग्रन्थोंका इतना वास्तविक, परिपूर्ण और स्पष्ट ज्ञान उनकी अपूर्व प्रतिभा और काशी सेवनका ही परिणाम है।

हिंदी सारका उद्देश्य—ग्रन्थका महत्त्व, उसकी उपयोगिता पर निर्भर है। उपयोगिताकी मात्रा लोकप्रियताकी मात्रासे निश्चित होती है। अच्छा ग्रन्थ होने पर भी यदि सर्व साधारणमें उसकी पहुँच न हुई तो उसकी लोकप्रियता नहीं हो सकती। जो अच्छा ग्रन्थ जितने ही प्रमाणमें अधिक लोकप्रिय हुआ देखा जाता है उसको लोगों तक पहुँचानेकी उतनी ही अधिक चेष्टा की गई होती है। गीताका उतना अधिक प्रचार कभी नहीं होता यदि विविध भाषाओंमें विविध रूपसे उसका उलथा न होता, अतएव यह साबीत है कि शास्त्रीय भाषाके ग्रंथोंको अधिक उपयोगी और अधिक लोकप्रिय बनानेका एक मात्र उपाय लौकिक भाषाओंमें उनका परिवर्तन करना है। भारत वर्षके साहित्यको भारतके अधिकांश भागमें फैलानेका साधन उसको राष्ट्रीय हिंदी भाषामें परिवर्तित करना यही है। इसी कारण प्रस्तुत पुस्तकमें मूल मूल योगसूत्र

वृत्ति और सटीक योगविंशिका छपवानेके बाद भी उनका हिंदी सार पुस्तकके अन्तमें दिया गया है। सार कहनेका अभिप्राय यह है कि वह मूलका न तो अक्षरशः अनुवाद है और न अविकल भावानुवाद ही है। अविकल भावानुवाद नहीं है इस कथनसे यह न समझना कि हिंदी सारमें मूल ग्रंथका असली भाव छोड दिया है, जहाँतक होसका सार लिखनेमें मूल ग्रन्थके असली भावकी ओर ही खयाल रक्खा है। अपनी ओरसे कोई नई बात नहीं लिखी है पर मूल ग्रन्थमें जो जो बात जिस जिस क्रमसे जितने जितने संक्षेप या विस्तारके साथ जिस जिस ढँगसे कही गई है वह सब हिंदी सारमें ज्यों की त्यों लानेकी हमने चेष्टा नहीं की है। दोनों सार लिखनेका ढँग भिन्न भिन्न है इसका कारण मूल ग्रंथोंका विषयभेद और रचना भेद है

पहले ही कहा गया है कि वृत्ति सब योग सूत्रोंके ऊपर नहीं है। उसका विषय आचार न होकर तत्त्वज्ञान है। उसकी भाषा साधारण संस्कृत न होकर विशिष्ट संस्कृत अर्थात् दार्शनिक परिभाषासे मिश्रित संस्कृत और वहभी नवीन न्याय परिभाषाके प्रयोगसे लदी है। अतएव उसका अक्षरशः अनुवाद या अविकल भावानुवाद करनेकी अपेक्षा हमको अपनी स्वीकृत पद्धति ही अधिक लाभदायक जान पडी है। वृत्तिका सार लिखनेमें यह पद्धति रखी गई है कि सूत्र या भाष्यके जिस जिस मन्तव्यके साथ पूर्णरूपसे या अपूर्णरूपसे जैन दृष्टिके अनुसार वृत्तिकार मिल जाते हैं या विरुद्ध होते हैं उस उस मन्तव्यको उस उस स्थानमें पृथक्करण पूर्वक संक्षेपमें लिखकर नीचे वृत्तिकारका संवाद या विरोध क्रमशः संक्षेपमें सूचित कर दिया है। सब जगह पूर्वपक्ष और उत्तर पक्षकी सब दलीलें सारमे नहीं दी हैं। सिर्फ सार लिखनेमें यही ध्यान रक्खा गया है कि वृत्तिकार कीस बात पर क्या कहना चाहते हैं।

योगसूत्र वृत्तिके अधिकारी तीन प्रकारके हो सकते हैं। पहले विशिष्ट विद्वान्। दूसरे संस्कृत भाषाको साधारण जाननेवाले किन्तु दर्शनप्रेमी। तीसरे संस्कृत भाषाको बिल्कुल नहीं जाननेवाले किन्तु दर्शनविद्याकी रुचिवाले। पहले प्रकारके अधिकारी तो हिंदी सारके सिवाय ही मूल ग्रन्थ देख सकेंगे उनके लिए यह सार नहीं है। दूसरे प्रकारके अधिकारीको मूल ग्रन्थ सुगम हो सके और तीसरे प्रकारके अधिकारीको मूल वस्तु मात्र सुगम हो सके इस दृष्टिसे वृत्तिका सार लिखा गया है।

योगविंशिका गाथाबद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ है। उसका विषय योग (चारित्र) है और उस पर परिपूर्ण समर्थ टीका है इस लिए इसका सार लिखनेकी पद्धति भिन्न है। प्रत्येक गाथाका नंबरवार भावानुसारी अर्थ लिखकर उसके नीचे खुलासेके तौर पर टीकाका उपयोगी अंश लेकर सार लिखा गया है। प्राकृत, संस्कृत कम जाननेपर या बिल्कुल नहीं जानने पर भी जो जैन योगके जिज्ञासु हैं उनको न तो बुद्धि पर बोझ ही पडे और न वस्तु ही अज्ञात रहे इस दृष्टिसे अर्थात् वैसे अधिकारिओंको विशेष उपयोगी होसके इस खयालसे यह सार लिखा गया है।

दोनों सार विशेष उपयोगी होसके इस दृष्टिसे हमने समय और श्रमकी परवा न करके सारको विशेष उपयोगी बनानेकी चेष्टा की है, फिर भी रुचिभेद या अन्य किसी कारणसे जिसको कुछ भी कमी जान पडे वह हमें सूचित करे या स्वयं उस कमीको दूर करनेकी चेष्टा करे।

आभार प्रदर्शन—आँखोंसे लाचार होनेके कारण पढने, लिखने आदिका मेरा सब काम पराश्रित है, अतएव उत्साह होनेपर भी यह कभी सम्भव नहीं कि योग्य सहायकोंके अभावमें प्रस्तुत पुस्तक मुझसे तैयार हो पाती। पाठक! आप इस

पुस्तकको सच्च मुच्च मेरे परम श्रद्धास्पद उन सहायकोंकी सहायताका ही परिणाम समझें, मैं तो इसमें स्वल्प निमित्त मात्र रहा हूँ। वे सहायक हैं प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजीके शिष्य मुनि श्री चतुरविजयजी और उनके शिष्य लघुवयस्क मुनि श्री पुण्यविजयजी। हस्तलिखित प्रतीयोंको संपादित कर उन परसे प्रेस कापी करना, प्रुफ देखना तथा हिंदीसारका संशोधन करके उसके प्रुफोंको देखना आदि सब बौद्धिक तथा शारीरिक काम उक्त लघुवयस्क मुनिने ही प्रधानतया किये हैं। उनके गुरु श्री चतुरविजयजी महाराजने उक्त काममें सहायता देनेके अलावा प्रेस, छपाई तथा अर्थसे संबंध रखनेवाली अनेक उलझनोंको सुलझाया है। निःसन्देह उक्त दोनों गुरु शिष्यकी सहृदयता, उत्साह शीलता और कुशलता सिर्फ मेरे ही नहीं बल्कि सभी साहित्यप्रेमीके धन्यवादके पात्र है। संक्षेपमें निष्पक्षभावसे इतना ही कहूँगा कि हीयमान साधुभावका विरलरूपसे आज जिन इनि गिनि व्यक्तियोंमें दर्शन होता है उनमें प्रवर्त्तकजीकी गणना निःसंकोच भावसे की जानी चाहिए। प्रवर्त्तकजीके ही गुण उक्त दोनों गुरुशिष्योंमें, खासकर उक्त लघुवयस्क मुनिमें उतर आये हैं यह बात उनके परिचयमें आनेवाला कोई भी स्वीकार किये विना न रहेगा।

योगसूत्रवृत्तिकी एक ही लिखित प्रति न्यायांभोनिधि आत्मारामजी महाराजके भाण्डारसे मिल सकी थी जिसके उपरसे प्रेस कॉपी तैयार की गई। उस प्रतिमें यत्र तत्र कई जगह अक्षर, पद या वाक्य तक खंडित हो गये थे। दूसरी प्रतिके अभावमें उस खंडित भागकी पूर्ति बहुधा अर्थानुसंधानजनित कल्पनासे किंवा उपाध्यायजीके ही रचित शास्त्रवार्तासमुच्चय-टीका आदि अन्य ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले समान विषयक

वर्णनके आधारसे की गई है। फिर भी कई जगह त्रुटित पाठकी पूर्ति नहीं हो सकी। जहाँ कल्पनाद्वारा पूर्ति की गई है वहाँ कोष्ठक आदि खास चिह्न किये हैं या नीचे फुट नोटमें सूचना की है।

योगविंशिकाके सम्बन्धमें भी वही बात है क्योंकि उसकी टीकाकी भी एक ही नकल मिल सकी। उस एक नकलको खोज नीकालनेका श्रेय प्रवर्तकजीके ही स्वर्गवासी शिष्य मुनि श्री भक्तिविजयजीको ही है। वह एक नकल कालके गालमें जा ही रही थी कि सौभाग्यवश उक्त मुनिजीको मिल गई। प्रसंग ऐसा हुआ कि अमदावादमें किसी श्रावकके वहाँ कचरेके रूपमें पुराने पन्ने पडे थे, जिनको उक्त मुनिजीने देखा और उनमेंसे उनको उपाध्यायजी कृत योगविंशिका टीकाकी एक अखंड नकल मिली जो उनके स्वहस्तलिखित ही है। यद्यपि उपाध्यायजीने श्री हरिभद्रकृत वीसों विंशिकाओंके ऊपर टीका लिखी है जैसा कि योगविंशिकाटीकाके इस अन्तिम उल्लेखसे स्पष्ट है—

इति महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकपण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरोपाध्यायश्रीजसविजयगणिसमर्थितायां विंशिकाप्रकरणव्याख्यायां योगविंशिकाविवरणं सम्पूर्णम् ॥

तथापि प्रस्तुत एक विंशिकाकी टीकाके सिवाय शेष उन्नीस विंशिकाओंकी टीकाएँ आज अनुपलब्ध हैं। न जाने वे नाशका ग्रास हो गईं, या कहीं अज्ञात रूपसे उक्त एक टीकाकी तरह कुडे कचरेके रूपमें किसी संग्रह लोलुपके द्वारा रक्षित

होंगी। अस्तु, जो कुछ हो पर अब भी इतना सौभाग्य है कि मूल मूल बीसों विंशिकाएँ कुछ खंडित रूपमें, कुछ अशुद्ध-रूपमें भी उपलब्ध हैं। छाया सहित उनको प्रकाशित करनेका तथा हो सका तो साथमें हिंदी सार देनेका हमारा विचार है। हमारा निवेदन है कि जिनके पास उक्त सब विंशिकाएँ या उनकी अपूर्ण, पूर्ण टीकाएँ हों वे हमें सूचित करें; क्योंकि यह सार्वजनिक संपत्ति है, एकबार जैसा छपा प्रायः फिर वैसा ही रहता है। छपनेके बाद लिखित प्रतियोंको कौन देखता है। इस दशामें छपानेसे पहले अधिकसे अधिक सामग्रीके द्वारा संशोधन आदि करना यही सच्ची श्रुत-भक्ति है। हमारा काम प्राप्त सामग्रीका उपयोग करना मात्र है। इस लिए पुण्यशाली महानुभावोंका यह कर्त्तव्य है कि वे लिखित प्रति आदि अपने पास जो कुछ साधन हो उसको देकर प्रकाशकके निःस्वार्थ कार्यको सरल करें।

पहले इस पुस्तकको पाँच सौ नकलें नीकलवानेका इरादा था पर पीछे हजार नकलें नीकलवानेका विचार हुआ। किन्तु उस समय एक तरहके उतने कागज न थे और न तुरत मिल ही सकते थे, इसलिए निरुपाय होकर दो किसमके कागजों पर पाँच सौ पाँच सौ नकलें नीकलवानी पडी हैं। फिर भी धारणासे कुछ अधिक मॅटर बढ जानेके कारण और कई दिनों तक कोशीश करने पर भी एक जातिके मोटे ॲन्टिक कागज न मिलनेसे अन्तमें लाचार होकर करीब दो फर्मे दूसरी किसमके मोटे कागज पर छपवाने पडे हैं। अस्तु जो कुछ हो बाह्य कलेवरमें थोडी सी विभिन्नता हो जाने पर भी पुस्तकका आन्तरिक स्वरूप एक ही प्रकारका है जिस पर वस्तुग्राही पाठक संतोष कर लेवें।

प्रस्तुत पुस्तकमें आर्थिक सहायता तीन व्यक्तिओंकी ओरसे प्राप्त है। जिसमें मुख्य भाग वडोदावाले शाह चुनीलाल नरोतमदासका है, प्रांतीजवाले शेठ मगनलाल करमचंद और भावनगरवाले शेठ दीपचंद गांडाभाइकी धर्मपत्नी बाइ मोतीबाइकी भी आर्थिक मददका इसमें हीस्सा है अतएव उक्त तीनों महानुभाव धन्यवादके भागी हैं।

अन्तमें विचारशील पाठकोंसे हम इतना ही निवेदन करते हैं कि वे इस पुस्तकमें जो कुछ त्रुटी देखें वह हमें सूचित करें।

भावनगर.
वि. सं. १९७८
फाल्गुन कृष्ण १३ रवि.

निवेदक—
सुखलाल संघजी.

प्रस्तावना.

प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति अपरिमित शक्तियोंके तेजका पुञ्ज है, जैसा कि सूर्य। अत एव राष्ट्र तो मानों अनेक सूर्योंका मण्डल है। फिर भी जब कोइ व्यक्ति या राष्ट्र असफलता या नैराश्यके भँवरमें पडता है तब यह प्रश्न होना सहज है कि इसका कारण क्या है?। बहुत विचार कर देखनेसे मालूम पडता है कि असफलता व नैराश्यका कारण योगका (स्थिरताका) अभाव है, क्योंकि योग न होनेसे बुद्धि संदेहशील बनी रहती है, और इससे प्रयत्नकी गति अनिश्चित हो जानेके कारण शक्तियां इधर उधर टकराकर आदमीको बरबाद कर देती हैं। इस कारण सब शक्तियोंको एक केन्द्रगामी बनाने तथा साध्यतक पहुंचानेके लिये अनिवार्यरूपसे सभीको योगकी जरूरत है। यही कारण है कि प्रस्तुत ×व्याख्यानमालामें योगका विषय रक्खा गया है।

इस विषयकी शास्त्रीय मीमांसा करनेका उद्देश यह है कि हमें अपने पूर्वजोंकी तथा अपनी सभ्यताकी प्रकृति ठीक मालूम हो, और तद्द्वारा आर्यसंस्कृतिके एक अंशका थोडा, पर निश्चित रहस्य विदित हो।

× गूजरात पुरातत्त्व मंदिरकी ओरसे होनेवाली आर्यविद्याव्याख्यानमालामें यह व्याख्यान पढा गया था।

योगदर्शन.

योगदर्शन यह सामासिक शब्द है। इसमें योग और दर्शन ये दो शब्द मौलिक हैं।

योग शब्दका अर्थ—योग शब्द युज् धातु और घञ् प्रत्ययसे सिद्ध हुवा है। युज् धातु दो हैं। एकका अर्थ है जोडना[1] और दूसरेका अर्थ है समाधि[2]—मनः स्थिरता। सामान्य रीतिसे योगका अर्थ संबन्ध करना तथा मानसिक स्थिरता करना इतना ही है, परंतु प्रसंग व प्रकरण के अनुसार उसके अनेक अर्थ हो जानेसे वह वहुरूपी बन जाता है। इसी बहुरूपिताके कारण लोकमान्यको अपने गीतारहस्यमें गीताका तात्पर्य दिखानेके लिये योगशब्दार्थनिर्णयकी विस्तृत भूमिका रचनी पडी है[3]। परंतु योगदर्शनमें योग शब्दका अर्थ क्या है यह बतलानेके लियें उतनी गहराइमें उतरनेकी कोइ आवश्यकता नहीं है, क्यों कि योगदर्शनविषयक सभी ग्रन्थोंमें जहां कहीं योग शब्द आया है वहां उसका एक ही अर्थ है, और उस अर्थका स्पष्टीकरण उस उस ग्रन्थमें

---

१ युजंपी योगे गण ७ हेमचंद्र धातुपाठ.

२ युजिंच् समाधौ गण ४ ,, ,, ,,

३ देखो पृष्ठ ५५ से ६०

ग्रन्थकारने स्वयं ही कर दिया है। भगवान् पतंजलिने अपने योगसूत्रमें[1] चित्तवृत्ति निरोधको ही योग कहा है, और उस ग्रन्थमें सर्वत्र योग शब्दका वही एक मात्र अर्थ विवक्षित है। श्रीमान् हरिभद्र सूरिने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थोंमें[2] मोक्ष प्राप्त कराने वाले धर्मव्यापारको ही योग कहा है। और उनके उक्त सभी ग्रन्थोंमें योग शब्दका वही एक मात्र अर्थ विवक्षित है। चित्तवृत्तिनिरोध और मोक्षप्रापक धर्मव्यापार इन दो वाक्योंके अर्थमें स्थूल दृष्टिसे देखने पर बडी भिन्नता मालूम होती है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर उनके अर्थकी अभिन्नता स्पष्ट मालूम हो जाती है, क्यों कि ' चित्तवृत्तिनिरोध ' इस शब्दसे वही क्रिया या व्यापार विवक्षित है जो मोक्षके लिये अनुकूल हो और जिससे चित्तकी संसाराभिमुख वृत्तियां रुक जाती हों। ' मोक्षप्रापक धर्मव्यापार ' इस शब्दसे भी वही क्रिया विवक्षित है। अत एव प्रस्तुत विषयमें योग शब्दका अर्थ स्वाभाविक समस्त आत्मशक्तियोंका पूर्ण विकास करानेवाली

---

१ पा. १ सू. २—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

२ योगबिन्दु श्लोक ३१—

अध्यात्मं भावनाऽऽध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥

योगविंशिका गाथा ॥१॥

क्रिया अर्थात् आत्मोन्मुख चेष्टा इतना ही समजना चाहीये[1]। योगविषयक वैदिक, जैन और बौद्ध ग्रन्थोंमें योग, ध्यान, समाधि ये शब्द बहुधा समानार्थक देखे जाते हैं।

दर्शन शब्दका अर्थ—नेत्रजन्यज्ञान[2], निर्विकल्प (निराकार) बोध[3], श्रद्धा[4], मत आदि अनेक अर्थ दर्शन शब्दके देखे जाते हैं। पर प्रस्तुत विषयमें दर्शन शब्दका अर्थ मत यह एक ही विवक्षित है।

योगके आविष्कारका श्रेय—जितने देश और जितनी जातियोंके आध्यात्मिक महान् पुरुषोंकी जीवनकथा तथा उनका साहित्य उपलब्ध है उसको देखनेवाला कोइ भी यह नहीं कह सकता है कि आध्यात्मिक विकास अमुक देश और अमुक जातिकी ही बपौती है, क्यों कि सभी देश और सभी जातियोंमें न्यूनाधिक रूपसे आध्यात्मिक विकास-वाले महात्माओंके पाये जानेके प्रमाण मिलते हैं[6]। योगका

---

१ लोर्ड एवेवरीने जो शिक्षाकी पूर्ण व्याख्या की है वह इसी प्रकारकी है:—"Education is the harmonious development of all our faculties."

२ दृशूं प्रेक्षणे—गण १ हेमचन्द्र धातुपाठ.

३ तत्त्वार्थ अध्याय २ सूत्र ९—श्लोक वार्तिक.

४ „ „ १ „ २

५ षड्दर्शन समुच्चय—श्लोक २—"दर्शनानि षडेवात्र" इत्यादि.

६ उदाहरणार्थ जरथोस्त, इसु, महम्मद आदि.

संबन्ध आध्यात्मिक विकाससे है। अत एव यह स्पष्ट है कि योगका अस्तित्व सभी देश और सभी जातियोंमें रहा है। तथापि कोइ भी विचारशील मनुष्य इस बातका इनकार नहीं कर सकता है कि योगके आविष्कारका या योगको पराकाष्ठा तक पहुंचानेका श्रेय भारतवर्ष और आर्यजातिको ही है। इसके सबूतमें मुख्यतया तीन बातें पेश की जा सकती हैं। १ योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि आध्यात्मिक महापुरुषोंकी बहुलता; २ साहित्यके आदर्शकी एकरूपता; ३ लोकरुचि।

१ योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि आध्यात्मिक महापुरुषोंकी बहुलता—पहिलेसे आज तक भारतवर्षमें आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी संख्या इतनी बडी रही है कि उसके सामने अन्य सब देश और जातियोंके आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी कुल संख्या इतनी अल्प जान पडती है जितनी कि गंगाके सामने एक छोटीसी नदी।

२ साहित्यके आदर्शकी एकरूपता—तत्त्वज्ञान, आचार, इतिहास, काव्य, नाटक आदि साहित्यका कोइ भी भाग लीजिये उसका अन्तिम आदर्श बहुधा मोक्ष ही होगा। प्राकृतिक दृश्य और कर्मकाण्डके वर्णनने वेदका बहुत बडा भाग रोका है सही, पर इसमें संदेह नहीं कि वह

वर्णन वेदका शरीर मात्र है। उसकी आत्मा कुछ और ही है-वह है परमात्मचिंतन या आध्यात्मिक भावोंका आविष्करण। उपनिषदोंका प्रासाद तो ब्रह्मचिन्तनकी बुन्याद पर ही खडा है। प्रमाणविषयक, प्रमेयविषयक कोइ भी तत्त्वज्ञान संबन्धी सूत्रग्रन्थ हो उसमें भी तत्त्वज्ञानके साध्यरूपसे मोक्षका ही वर्णन मिलेगा। आचारविषयक सूत्र स्मृति आदि सभी ग्रन्थोंमें आचारपालनका मुख्य उद्देश मोक्ष ही

---

१ वैशेषिकदर्शन अ० १ सू० ४—

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' ॥

न्यायदर्शन अ० १ सू० १—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥

सांख्यदर्शन अ० १—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

वेदान्तदर्शन अ० ४ पा० ४ सू० २२—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥

जैनदर्शन तत्त्वार्थ अ० १ सू० १—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥

माना गया[1] है। रामायण, महाभारत आदिके मुख्य पात्रोंकी महिमा सिर्फ इस लिये नहीं कि वे एक बडे राज्यके स्वामी थे, पर वह इस लिये है कि अंतमें वे संन्यास या तपस्याके द्वारा मोक्षके अनुष्ठानमें ही लग जाते हैं। रामचन्द्रजी प्रथम ही अवस्थामें वशिष्ठसे योग और मोक्षकी शिक्षा पा लेते[2] हैं। युधिष्ठिर भी युद्ध रस लेकर बाण-शय्यापर सोये हुवे भीष्मपितामहसे शान्तिका ही पाठ पढते[3] हैं। गीता तो रणांगणमें भी मोक्षके एकतम साधन योगका ही उपदेश देती है। कालिदास जैसे शृंगारप्रिय कहलानेवाले कवि भी अपने मुख्य पात्रोंकी महत्ता मोक्षकी ओर झूकनेमें ही देखते हैं[4]। जैन आगम और बौद्ध पिटक तो निवृत्तिप्रधान होनेसे

---

१ याज्ञवल्क्यस्मृति अ० ३ यतिधर्मनिरूपणम्;
मनुस्मृति अ० १२ श्लोक ८३

२ देखो योगवाशिष्ठ.

३ देखो महाभारत-शान्तिपर्व.

४ कुमारसंभव-सर्ग ३ तथा ५ तपस्या वर्णनम्.
शाकुन्तल नाटक अंक ४ कण्वोक्ति,

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी,
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं,
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥

मुख्यतया मोक्षके सिवाय अन्य विषयोंका वर्णन करनेमें बहुत ही संकुचाते हैं। शब्दशास्त्रमें भी शब्दशुद्धिको तत्त्व-ज्ञानका द्वार मान कर उसका अन्तिम ध्येय परम श्रेय ही माना है[1]। विशेष क्या? कामशास्त्र तकका भी आखिरी उद्देश मोक्ष है[2]। इस प्रकार भारतवर्षीय साहित्यका कोइ भी स्रोत देखिये, उसकी गति समुद्र जैसे अपरिमेय एक चतुर्थ पुरुषार्थकी ओर ही होगी।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम् यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनाम् योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥८॥ सर्ग १
अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे,
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये,
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥७०॥ „ ३
रघुवंश.

१ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
व्याकरणात्पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥
श्रीहैमशब्दानुशासनम् अ० १ पा० १ सू० २ लघुन्यास.
२ " स्थाविरे धर्मं मोक्षं च " कामसूत्र अ० २ पृ० ११
Bombay Edition.

३ लोकरुचि—आध्यात्मिक विषयकी चर्चावाला और खासकर योगविषयक कोइ भी ग्रन्थ किसीने भी लिखा कि लोगोंने उसे अपनाया। कंगाल और दीन हीन अवस्थामें भी भारतवर्षीय लोगोंकी उक्त अभिरुचि यह सूचित करती है कि योगका सम्बन्ध उनके देश व उनकी जातिमें पहलेसे ही चला आता है। इसी कारणसे भारतवर्षकी सभ्यता अरण्यमें उत्पन्न हुइ कही जाती है[1]। इस पैतृक स्वभावके कारण जब कभी भारतीय लोग तीर्थयात्रा या सफरके लिये पहाडों, जंगलों और अन्य तीर्थस्थानोंमें जाते हैं तब वे डेरातंबु डालनेसे पहले ही योगियोंको, उनके मठोंको और उनके चिह्नतकको भी ढुंढा करते हैं। योगकी श्रद्धाका उद्रेक यहां तक देखा जाता है कि किसी नंगे बावेको गांजेकी चिलम फूंकते या जटा बढ़ाते देखा कि उसके मुंहके धुंएमें या उसकी जटा व भस्मलेपमें योगका गन्ध आने लगता है। भारतवर्षके पहाड, जंगल और तीर्थस्थान भी बिलकुल योगिशून्य मिलना दुःसंभव है। ऐसी स्थिति अन्य देश और अन्य जातिमें दुर्लभ है। इससे यह अनुमान करना सहज है कि योगको आविष्कृत करनेका तथा परा-

---

१ देखो कविवर टागोर कृत "साधना" पृष्ठ ४.
"Thus in India it was in the forests that our civilisation had its birth......etc."

काष्ठा तक पहुंचानेका श्रेय बहुधा भारतवर्षको और आर्य-जातिको ही है। इस बातकी पुष्टि मेक्समूलर जैसे विदेशीय और भिन्न संस्कारी विद्वान्के कथनसे भी अच्छी तरह होती है[१]।

आर्यसंस्कृतिकी जड और आर्यजातिका लक्षण—उपरके कथनसे आर्यसंस्कृतिका मूल आधार क्या है यह स्पष्ट मालूम हो जाता है। शाश्वत जीवनकी उपादेयता ही आर्यसंस्कृतिकी भित्ति है। इसी पर आर्यसंस्कृतिके चित्रोंका चित्रण किया गया है। वर्णविभाग जैसा सामाजिक संगठन और आश्रमव्यवस्था जैसा वैयक्तिक जीवनविभाग उस चित्रणका अनुपम उदाहरण है। विद्या, रक्षण, विनिमय और सेवा ये चार जो वर्णविभागके उद्देश्य हैं। उनके प्रवाह गार्हस्थ्य जीवनरूप मैदानमें अलग अलग बह कर भी वानप्रस्थके मुहानेमें मिलकर अंतमें संन्यासाश्रमके अपरिमेय समुद्रमें एकरूप हो जाते हैं। सारांश यह है कि सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी संस्कृतियोंका निर्माण, स्थूलजीवनकी परिणामविरसता और आ-

---

१ This concentration of thought (एकाग्रता) or one-pointedness as the Hindus called it, is something to us almost unknown. इत्यादि देखो पृ-२३-वोल्युम १-सेक्रेड बुक्स ओफ धि ईस्ट मेक्समूलर-प्रस्तावना.

ध्यात्मिक जीवनकी परिणाम सुन्दरता उपर ही किया गया है। अत एव जो विदेशीय विद्वान् आर्यजातिका लक्षण स्थूलशरीर, उसके डीलडोल, व्यापार-व्यवसाय, भाषा, आदिमें देखते हैं वे एकदेशीय मात्र हैं। खेतीबारी, जहाज-खेना, पशुओंको चराना आदि जो जो अर्थ आर्यशब्दसे निकाले गये हैं[1] वे आर्यजातिके असाधारण लक्षण नहीं हैं। आर्यजातिका असाधारण लक्षण परलोकमात्रकी कल्पना भी नहीं है क्यों कि उसकी दृष्टिमें वह लोक भी त्याज्य[2] है। उसका सच्चा और अन्तरंग लक्षण स्थूल जगत्के उसपार वर्तमान परमात्मतत्त्वकी एकाग्रबुद्धिसे उपासना करना यही[3] है। इस सर्वव्यापक उद्देश्यके कारण आर्यजाति अपनेको अन्य सब जातियोंसे श्रेष्ठ समझती आइ है।

ज्ञान और योगका संबन्ध तथा योगका दरजा—व्यवहार हो या परमार्थ, किसी भी विषयका ज्ञान तभी परिपक्व समझा जा सकता है जब कि ज्ञानानुसार आचरण किया जाय। असलमें यह आचरण ही योग है।

---

१ Biographies of Words & the Home of the Aryans by Max Muller page 50। २ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं, विशालं क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ गीता अ० ९ श्लोक २१॥ ३ देखो Apte's Sanskrit to English Dictionary.

अत एव ज्ञान योगका कारण है। परन्तु योगके पूर्ववर्ति जो ज्ञान होता है वह अस्पष्ट होता है। और योगके बाद होनेवाला अनुभवात्मक ज्ञान स्पष्ट तथा परिपक्व होता है। इसीसे यह समझ लेना चाहिये कि स्पष्ट तथा परिपक्व ज्ञानकी एक मात्र कुंजी योग ही है। आधिभौतिक या आध्यात्मिक कोइ भी योग हो, पर वह जिस देश या जिस जातिमें जितने प्रमाणमें पुष्ट पाया जाता है उस देश या उस जातिका विकास उतना ही अधिक प्रमाणमें होता है। सच्चा ज्ञानी वहीं है जो योगी है। जिसमें योग या एकाग्रता नहीं होती वह योगवाशिष्ठकी परिभाषामें ज्ञानवन्धु[3]

---

१ इसी अभिप्रायसे गीता योगिको ज्ञानीसे अधिक कहती है.

गीता अ० ६. श्लोक ४६—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन!॥

२ गीता अ० ५. श्लोक ५—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

३ योगवाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध सर्ग २१—

व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।

यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानवन्धुः स उच्यते॥

आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये।

सन्तुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानवन्धवः॥ इत्यादि.

है। योगके सिवाय किसी भी मनुष्यकी उत्क्रान्ति हो ही नहीं सकती, क्यों कि मानसिक चंचलताके कारण उसकी सब शक्तियां एक ओर न बह कर भिन्न भिन्न विषयोंमें टकराती हैं, और क्षीण हो कर यों ही नष्ट हो जाती हैं। इसलिये क्या किसान, क्या कारीगर, क्या लेखक, क्या शोधक, क्या त्यागी सभीको अपनी नाना शक्तियोंको केन्द्रस्थ करेनेके लिय योग ही परम साधन है।

व्यावहारिक और पारमार्थिक योग—योगका कलेवर एकाग्रता है, और उसकी आत्मा अहंत्व ममत्वका त्याग है। जिसमें सिर्फ एकाग्रताका ही संबन्ध हो वह व्यावहारिक योग, और जिसमें एकाग्रताके साथ साथ अहंत्व ममत्वके त्यागका भी संबन्ध हो वह पारमार्थिक योग है। यदि योगका उक्त आत्मा किसी भी प्रवृत्तिमें—चाहे वह दुनियाकी दृष्टिमें बाह्य ही क्यों न समझी जाती हो—वर्तमान हो तो उसे पामार्थिक योग ही समझना चाहिये। इसके विपरीत स्थूलदृष्टिवाले जिस प्रवृत्तिको आध्यात्मिक समझते हों, उसमें भी यदि योगका उक्त आत्मा न हो तो उसे व्यवहारिक योग ही कहना चाहिये। यही बात गीताके साम्यगर्भित कर्मयोगमें कही गई है।[1]

---

१ अ० २ श्लोक ४८—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

योगकी दो धारायें—व्यवहारमें किसी भी वस्तुको परिपूर्ण स्वरूपमें तैयार करनेके लिये पहले दो बातोंकी आवश्यकता होती है। जिनमें एक ज्ञान और दूसरी क्रिया है। चितेरेको चित्र तैयार करनेसे पहले उसके स्वरूपका, उसके साधनोंका और साधनोंके उपयोगका ज्ञान होता है, और फिर वह ज्ञान के अनुसार क्रिया भी करता है तभी वह चित्र तैयार कर पाता है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी मोक्षके जिज्ञासुके लिये बन्धमोक्ष, आत्मा और बन्धमोक्षके कारणोंका तथा उनके परिहार, उपादानका ज्ञान होना जरूरी है। एवं ज्ञानानुसार प्रवृत्ति भी आवश्यक है। इसी से संक्षेपमें यह कहा गया है कि "ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः"। योग क्रियामार्गका नाम है। इस मार्गमें प्रवृत्त होनेसे पहले अधिकारी, आत्मा आदि आध्यात्मिक विषयोंका आरंभिक ज्ञान शास्त्रसे, सत्संगसे, या स्वयं प्रतिभा द्वारा कर लेता है। यह तत्त्वविषयक प्राथमिक ज्ञान प्रवर्तक ज्ञान कहलाता है। प्रवर्तक ज्ञान प्राथमिक दशाका ज्ञान होनेसे सबको एकाकार और एकसा नहीं हो सकता। इसीसे योगमार्गमें तथा उसके परिणामस्वरूप मोक्षस्वरूपमें तात्त्विक भिन्नता न होने पर भी योगमार्गके प्रवर्तक प्राथमिक ज्ञानमें कुछ भिन्नता अनिवार्य है। इस

प्रवर्तक ज्ञानका मुख्य विषय आत्माका अस्तित्व है। आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व माननेवालोंमें भी मुख्य दो मत हैं-पहला एकात्मवादी और दूसरा नानात्मवादी। नानात्मवादमें भी आत्माकी व्यापकता, अव्यापकता, परिणामिता, अपरिणामिता माननेवाले अनेक पक्ष हैं। पर इन वादोंको एकतरफ रख कर मुख्य जो आत्माकी एकता और अनेकताके दो वाद हैं उनके आधार पर योगमार्गकी दो धारायें हो गइ हैं। अत एव योगविषयक साहित्य भी दो मार्गोंमें विभक्त हो जाता है। कुछ उपनिषदें,[1] योगवाशिष्ठ, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थ एकात्मवादको लक्ष्यमें रख कर रचे गये हैं। महाभारतगत योग प्रकरण, योगसूत्र तथा जैन और बौद्ध योगग्रन्थ नानात्मवादके आधार पर रचे गये हैं।

योग और उसके साहित्यके विकासका दिग्दर्शन—आर्यसाहित्यका भाण्डागार मुख्यतया तीन भागोंमें विभक्त है-वैदिक, जैन और बौद्ध। वैदिक साहित्यका प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य है। तथापि उसमे आध्या-

---

१ ब्रह्मविद्या, क्षुरिका, चूलिका, नादबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृतबिन्दु, ध्यानबिन्दु, तेजोबिन्दु, शिखा, योगतत्त्व, हंस.

त्मिक भाव अर्थात् परमात्मचिन्तनका अभाव नहीं है[1]। परमात्मचिन्तनका भाग उसमें थोडा है सही, पर वह इतना अधिक स्पष्ट, सुन्दर और भावपूर्ण है कि उसको ध्यानपूर्वक देखनेसे यह साफ मालूम पड जाता है कि तत्कालीन लोगोंकी दृष्टि केवल बाह्य न[2] थी। इसके सिवा उसमें

---

१ देखो " भागवताचा उपसंहार " पृष्ठ २५२.

२ उदाहरणार्थ कुछ सूक्त दिये जाते हैं:—

ऋग्वेद मं. १ सू. १६४–४६—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

भाषांतरः—लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि कहते हैं। वह सुंदर पांखवाला दिव्य पक्षी है। एक ही सत्का विद्वान् लोग अनेक प्रकारसे वर्णन करते है। कोइ उसे अग्नि, यम या वायु भी कहते हैं।

ऋग्वेद मण्ड. ६ सू. ९

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये ॥६॥
विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने ! तमसि तस्थिवांसम्।
वैश्वानरोऽवतूतये नोऽमर्त्योऽवतूतये नः ॥ ७ ॥

भाषांतरः—मेरे कान विविध प्रकारकी प्रवृत्ति करते हैं। मेरे नेत्र, मेरे हृदयमें स्थित ज्योति और मेरा दूरवर्ति मन (भी)

ज्ञान, श्रद्धा, उदारता, ब्रह्मचर्य आदि आध्यात्मिक उच्च मानसिक भावोंके चित्र भी बडी खूबीवाले मिलते हैं। इससे

विविध प्रवृत्ति कर रहा है। मैं क्या कहूँ और क्या विचार करूँ ?। ६। अंधकारस्थित हे अग्नि ! तुजको अंधकारसे भय पानेवाले देव नमस्कार करते हैं। वैश्वानर हमारा रक्षण करे। अमर्त्य हमारा रक्षण करे। ७।

पुरुषसूक्त मण्डल १० सू ९० ऋग्वेदः—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥
एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

भाषांतरः—(जो) हजार सिरवाला, हजार आंखवाला, हजार पाँववाला पुरुष (है) वह भूमिको चारों ओरसे घेर कर (फिर भी) दस अंगुल बढ़ कर रहा है। १। पुरुष ही यह सब कुछ है—जो भूत और जो भावि। (वह) अमृतत्वका ईश अन्नसे बढ़ता है। २। इतनी इसकी महिमा—इससे भी

---

१ मं. १० सू. ७१ ऋग्वेद। २ मं. १० सू० १५१ ऋग्वेद। ३ मं. १० सू. ११७ ऋग्वेद। ४ मं. १० सू. १० ऋग्वेद।

यह अनुमान करना सहज है कि उस जमानेके लोगोंका
झुकाव आध्यात्मिक अवश्य था। यद्यपि ऋग्वेदमें योगशब्द

वह पुरुष अधिकतर है। सारे भूत उसके एक पाद मात्र हैं—
उसके अमर तीन पाद स्वर्गमें हैं। ३।

क सूक्त मं. १० सू. १२१ ऋग्वेदः—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

भाषांतरः—पहले हिरण्यगर्भ था। वही एक भूत मात्रका पति बना था। उसने पृथ्वी और इस आकाशको धारण किया। किस देवको हम हविसे पूजें ?। १। जो आत्मा और बलको देनेवाला है। जिसका विश्व है। जिसके शासनकी देव उपासना करते हैं। अमृत और मृत्यु जिसकी छाया है। किस देवको हम हविसे पूजें ?। २।

ऋग्वेद मं. १०—१२९—६ तथा ७—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ॥
इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

अनेक स्थानोंमें आया है, पर सर्वत्र उसका अर्थ प्रायः जोडना इतना ही है, ध्यान या समाधि अर्थ नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि पिछले योग विषयक साहित्यमें ध्यान, वैराग्य, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि जो योगप्रक्रिया प्रसिद्ध शब्द पाये जाते हैं वे ऋग्वेदमें बिलकुल नहीं हैं। ऐसा होनेका कारण जो कुछ हो, पर यह निश्चित है कि तत्कालीन लोगोंमें ध्यानकी भी रुचि थी। ऋग्वेदका ब्रह्मस्फुरण जैसे जैसे विकसित होता गया और उपनिषदके जमानेमें उसने जैसे ही विस्तृत रूप धारण किया वैसे वैसे ध्यानमार्ग भी अधिक पुष्ट और साङ्गोपाङ्ग होता चला। यही कारण है कि प्राचीन उपनिषदोंमें भी समाधि अर्थमें योग, ध्यान

भाषांतरः—कौन जानता है—कौन कह सकता है कि यह विविध सृष्टि कहाँसे उत्पन्न हुइ ?। देव इसके विविध सर्जनके बाद (हुवे) हैं। कौन जान सकता है कि यह कहांसे आई ? यह विविध सृष्टि कहांसे आई और स्थितिमें है वा नहीं है ? यह बात परम व्योममें जो इसका अध्यक्ष है वही जाने—कदाचित् वह भी न जानता हो।

---

१ मंडल १ सूक्त ३४ मंत्र ६। मं. १० सू. १६६ मं. ५। मं. १ सू. १८ मं. ७। मं १. सू. ५ मं. ३। मं. २ सू. ८ मं. १। मं. ९ सू. ५८ मं. ३।

आदि शब्द पाये जाते हैं[1]। श्वेताश्वतर उपनिषद्में तो स्पष्ट रूपसे योग तथा योगोचित स्थान, प्रत्याहार, धारणा आदि योगाङ्गोंका वर्णन है[2]। मध्यकालीन और अर्वाचीन अनेक उपनिषदें तो सिर्फ योगविषयक ही हैं, जिनमें योगशास्त्रकी तरह सांगोपांग योगप्रक्रियाका वर्णन है। अथवा यह कहना

---

१ (क) तैत्तिरिय २-४। कठ २-६-११। श्वेताश्वतर २-११, ६-३। (ख) छान्दोग्य ७-६-१, ७-६-२, ७-७-१, ७-२६-१। श्वेताश्वतर १-१४। कौशीतकि ३-२, ३-३, ३-४, ३-६।

२ श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय २—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥
प्राणान्प्रपीड्येह सयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥
समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

इत्यादि.

३ ब्रह्मविद्योपनिषद्, क्षुरिकोपनिषद्, चूलिकोपनिषद्, नादबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृतबिन्दु, ध्यानबिन्दु, तेजोबिन्दु, योगशिखा, योगतत्त्व, हंस। देखो ड्युसेनकृत—"Philosophy of the Upanishad's"

चाहिये कि ऋग्वेदमें जो परमात्मचिन्तन अंकुरायमाण था वही उपनिषदोंमें पल्लवित पुष्पित हो कर नाना शाखा प्रशाखाओंके साथ फल अवस्थाको प्राप्त हुवा। इससे उपनिषद्-कालमें योगमार्गका पुष्टरूपमें पाया जाना स्वाभाविक ही है।

उपनिषदोंमें जगत, जीव और परमात्मसम्बन्धी जो तात्त्विक विचार है, उसको भिन्न भिन्न ऋषियोंने अपनी दृष्टिसे सूत्रोमें ग्रथित किया, और इस तरह उस विचारको दर्शनका रूप मिला। सभी दर्शनकारोंका आखिरी उद्देश मोक्ष *ही रहा है, इससे उन्होंने अपनी अपनी दृष्टिसे तत्त्व-

---

* प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। गौ० सू० १-१-१॥ धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्॥ वै० सू० १-१-४॥ अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः सां० द० १-१। पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। यो० सू० ४-३३॥ अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ४-४-२२ ब्र. सू.।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थ १-१ जैन० द०। बौद्ध दर्शनका तीसरा निरोध नामक आर्यसत्य ही मोक्ष है।

विचार करनेके बाद भी संसारसे छुट कर मोक्ष पानेके साधनोंका निर्देश किया है। तत्त्वविचारणामें मतभेद हो सकता है, पर आचरण यानी चारित्र एक ऐसी वस्तु है जिसमें सभी विचारशील एकमत हो जाते हैं। विना चारित्रका तत्त्वज्ञान कोरी बातें हैं। चारित्र यह योगका किंवा योगांगोंका संक्षिप्त नाम है। अत एव सभी दर्शनकारोंने अपने अपने सूत्रग्रन्थोंमें साधन रूपसे योगकी उपयोगिता अवश्य बतलाइ है। यहां तक की–न्यायदर्शन जिसमें प्रमाण पद्धतिका ही विचार मुख्य है उसमें भी महर्षि गौतमने योगको स्थान दिया है[1]। महर्षि कणादने तो अपने वैशेषिक दर्शनमें यम, नियम, शौच आदि योगांगोंका भी महत्त्व गाया है[2]। सांख्यसूत्रमें योगप्रक्रियाके वर्णनवाले कइ सूत्र हैं[3]। ब्रह्म-

१ समाधिविशेषाभ्यासात् ४–२–३८। अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ४–२–४२। तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ४–२–४६ ॥

२ अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय। ६–२–२। अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते, नियमाभावाद्, विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य। ६–२–८।

३ रागोपहतिर्ध्यानम् ३–३०। वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः

सूत्रमें महर्षि बादरायणने तो तीसरे अध्यायका नाम ही साधन अध्याय रक्खा है, और उसमें आसन ध्यान आदि योगांगोंका वर्णन किया है[1]। योगदर्शन तो मुख्यतया योगविचारका ही ग्रन्थ ठहरा, अत एव उसमें सांगोपांग योगप्रक्रियाकी मीमांसाका पाया जाना सहज ही है। योगके स्वरूपके सम्बन्धमें मतभेद न होनेके कारण और उसके प्रतिपादनका उत्तरदायित्व खासकर योगदर्शनके उपर होनेके कारण अन्य दर्शनकारोंने अपने अपने सूत्र ग्रन्थोंमें थोडासा योगविचार करके विशेष जानकारीके लिये जिज्ञासुओंको योगदर्शन देखनेकी सूचना दे दी[2] है। पूर्वमीमांसामें महर्षि जैमिनिने योगका निर्देश तक नहि किया है सो ठीक ही है, क्योंकि उसमें सकाम कर्मकाण्ड अर्थात् धूम-मार्गकी ही मीमांसा है। कर्मकाण्डकी पहुंच स्वर्गतक

३-३१। धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ३-३२। निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ३-३३। स्थिरसुखमासनम् ३-३४।

१ आसीनः संभवात् ४-१-७। ध्यानाच्च ४-१-८। अचलत्वं चापेक्ष्य ४-१-९। स्मरन्ति च ४-१-१०। यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ४-१-११।

२ योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः। न्यायदर्शन ४-२-४६ भाष्य।

ही है, मोक्ष उसका साध्य नहीं। और योगका उपयोग तो मोक्षके लिये ही होता है।

जो योग उपनिषदोंमें सूचित और सूत्रोंमें सूत्रित है, उसीकी महिमा गीतामें अनेक रूपसे गाइ गइ है। उसमें योगकी तान कभी कर्मके साथ, कभी भक्तिके साथ और कभी ज्ञानके साथ सुनाइ देती है[1]। उसके छट्ठे और तेरहवें अध्यायमें तो योगके मौलिक सब सिद्धान्त और योगकी सारी प्रक्रिया आ जाती है[2]। कृष्णके द्वारा अर्जुनको

---

१ गीताके अठारह अध्यायोंमें पहले छह अध्याय कर्मयोग प्रधान, बिचके छह अध्याय भक्तियोग प्रधान और अंतिम छह अध्याय ज्ञानयोग प्रधान हैं।

२ योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १० ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥ अ० ६

गीताके रूपमें योगशिक्षा दिला कर ही महाभारत सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसके अथक स्वरको देखते हुए कहना पडता है कि ऐसा होना संभव भी न था। अत एव शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें योगविषयक अनेक सर्ग[1] वर्तमान हैं, जिनमें योगकी अथेति प्रक्रियाका वर्णन पुनरुक्तिकी परवा न करके किया गया है। उसमें बाणशय्यापर लेटे हुए भीष्मसे बार बार पूछनेमें न तो युधिष्ठिरको ही कंटाला आता है, और न उस सुपात्र धार्मिक राजाको शिक्षा देनेमें भीष्मको ही थकावट मालूम होती है।

योगवाशिष्ठका विस्तृत महल तो योगकी भूमिकापर खडा किया गया है। उसके छह[2] प्रकरण मानों उसके सुदीर्घ कमरे हैं, जिनमें योगसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी विषय रोचकतापूर्वक वर्णन किये गये हैं। योगकी जो जो बातें योगदर्शनमें संक्षेपमें कही गई हैं, उन्हींका विविधरूपमें विस्तार करके ग्रन्थकारने योगवाशिष्ठका कलेवर बहुत बढा दिया है, जिससे यही कहना पडता है कि योगवाशिष्ठ योगका ग्रन्थराज है।

पुराणमें सिर्फ पुराणशिरोमणि भागवतको ही देखिये, उसमें योगका सुमधुर पद्योंमें पूरा वर्णन[3] है।

---

१ शान्तिपर्व १९३, २१७, २४६, २५४ इत्यादि। अनुशासनपर्व ३६, २४६ इत्यादि। २ वैराग्य, मुमुक्षुव्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण। ३ स्कन्ध ३ अध्याय २८। स्कन्ध ११. अ० १५, १९, २० आदि।

योगविषयक विविध साहित्यसे लोगोंकी रुचि इतनी परिमार्जित हो गई थी कि तान्त्रिक संप्रदायवालोंने भी तन्त्र-ग्रन्थोंमें योगको जगह दी, यहां तक कि योग तन्त्रका एक खासा अंग बन गया। अनेक तान्त्रिक ग्रन्थोंमें योगकी चर्चा है, पर उन सबमें महानिर्वाणतन्त्र, षट्चक्रनिरूपण आदि मुख्य हैं[1]।

---

१ देखो महानिर्वाणतन्त्र ३ अध्याय। देखो षट्चक्रनिरूपण,

ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः।
शिवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्तिं परे विदुः॥ पृष्ठ ८२
Tantrik Texts में छपा हुआ.

समत्वभावनां नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
समाधिमाहुर्मुनयः प्रोक्तमष्टाङ्गलक्षणम्॥ पृ० ९१ ,,

यदत्र नात्र निर्भासः स्तिमितोदधिवत् स्मृतम्।
स्वरूपशून्यं यद् ध्यानं तत्समाधिर्विधीयते॥ पृ० ९०,,

त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपं।
तदन्तः शून्यं तत् सकलसुरगणैः सेवितं चातिगुप्तम्॥ पृ. ६० ,,

"आहारनिर्हारविहारयोगाः सुसंवृता धर्मविदा तु कार्याः"
पृ० ६१ ,,

ध्यै चिन्तायाम् स्मृतो धातुश्चिन्ता तत्त्वेन निश्चला।
एतद् ध्यानमिह प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं द्विधा।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं तथा॥ पृ० १३४ ,,

जब नदीमें बाढ आता है तब वह चारों ओरसे बहने लगती है। योगका यही हाल हुआ, और वह आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि बाह्य अंगोंमें प्रवाहित होने लगा। बाह्य अंगोंका भेद प्रभेद पूर्वक इतना अधिक वर्णन किया गया और उसपर इतना अधिक जोर दिया गया कि जिससे वह योगकी एक शाखा ही अलग बन गई, जो हठयोगके नामसे प्रसिद्ध है।

हठयोगके अनेक ग्रन्थोंमें हठयोगप्रदीपिका, शिव-संहिता, घेरण्डसंहिता, गोरक्षपद्धति, गोरक्षशतक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमें आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुंभक, रेचक, पूरक आदि बाह्य योगांगोंका पेट भर भरके वर्णन किया है, और घेरण्डने तो चौरासी आसनको चौरासी लाख तक पहुंचा दिया है।

उक्त हठयोगप्रधान ग्रन्थोंमें हठयोगप्रदीपिका ही मुख्य है, क्यों कि उसीका विषय अन्य ग्रन्थोंमें विस्तार रूपसे वर्णन किया गया है। योगविषयक साहित्यके जिज्ञासुओंको योगतारावली, विन्दुयोग, योगबीज और योगकल्पद्रुमका नाम भी भूलना न चाहिये। विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दीमें मैथिल पण्डित भवदेवद्वारा रचित योगनिबन्ध नामक हस्त-लिखित ग्रन्थ भी देखनेमें आया है, जिसमें विष्णुपुराण आदि अनेक ग्रन्थोंके हवाले दे कर योगसम्बन्धी प्रत्येक विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है।

संस्कृत भाषामें योगका वर्णन होनेसे सर्व साधारणकी जिज्ञासाको शान्त न देख कर लोकभाषाके योगियोंने भी अपनी अपनी जबानमें योगका अलाप करना शुरु कर दिया।

महाराष्ट्रीय भाषामें गीताकी ज्ञानदेवकृत ज्ञानेश्वरी टीका प्रसिद्ध है, जिसके छट्ठे अध्यायका भाग बडा ही हृदयहारी है। निःसन्देह ज्ञानेश्वरी द्वारा ज्ञानदेवने अपने अनुभव और वाणीको अवन्ध्य कर दिया है। सुहीरोबा आंबिये रचित नाथसम्प्रदायानुसारी सिद्धान्तसंहिता भी योगके जिज्ञासुओंके लिये देखनेकी वस्तु है।

कबीरका बीजक ग्रन्थ योगसम्बन्धी भाषासाहित्यका एक सुन्दर मणका है।

अन्य योगी सन्तोंने भी भाषामें अपने अपने योगानुभवकी प्रसादी लोगोंको चखाई है, जिससे जनताका बहुत बडा भाग योगके नाम मात्रसे मुग्ध बन जाता है।

अत एव हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि प्रसिद्ध प्रत्येक प्रान्तीय भाषामें पातञ्जल योगशास्त्रका अनुवाद तथा विवेचन आदि अनेक छोटे बडे ग्रन्थ बन गये हैं। अंग्रेजी आदि विदेशीय भाषामें भी योगशास्त्रपर अनुवाद आदि बहुत कुछ बन गया है, जिसमें वूडका भाष्यटीका सहित मूल पातञ्जल योगशास्त्रका अनुवाद ही विशिष्ट है।

---

१. प्रो० राजेन्द्रलाल मित्र, स्वामी विवेकानंद, श्रीयुत रामप्रसाद आदि कृत

जैन सम्प्रदाय निवृत्ति-प्रधान है। उसके प्रवर्तक भगवान् महावीरने बारह सालसे अधिक समय तक मौन धारण करके सिर्फ आत्मचिन्तनद्वारा योगाभ्यासमें ही मुख्यतया जीवन विताया। उनके हजारों[1] शिष्य तो ऐसे थे जिन्होंने घरबार छोड कर योगाभ्यासद्वारा साधुजीवन विताना ही पसंद किया था।

जैन सम्प्रदायके मौलिक ग्रन्थ आगम कहलाते हैं। उनमें साधुचर्याका जो वर्णन है, उसको देखनेसे यह स्पष्ट जान पडता है कि पांच यम; तप, स्वाध्याय आदि नियम; इन्द्रिय-जय-रूप प्रत्याहार इत्यादि जो योगके खास अङ्ग हैं, उन्हींको साधुजीवनका एक मात्र प्राण[2] माना है।

जैनशास्त्रमें योगपर यहां तक भार दिया गया है कि पहले तो वह मुमुक्षुओंको आत्मचिन्तनके सिवाय दूसरे कार्योंमें प्रवृत्ति करनेकी संमति ही नहीं देता, और अनिवार्य रूपसे प्रवृत्ति करनी आवश्यक हो तो वह निवृत्तिमय प्रवृत्ति करनेको कहता है। इसी निवृत्तिमय प्रवृत्तिका नाम उसमें अष्टप्रवचनमाता[3] है। साधुजीवनकी दैनिक और रात्रिक

---

१ "चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं छत्तीसाहिं अज्जिआसाहस्सीहिं" उववाइसूत्र।

२ देखो आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, मूलाचार, आदि। ३ देखो उत्तराध्ययन अ० २४।

चर्यामें तीसरे प्रहरके सिवाय अन्य तीनों प्रहरोंमें मुख्यतया स्वाध्याय और ध्यान करनेको ही कहा गया है[१]।

यह बात भूलनी न चाहिये कि जैन आगमोंमे योग-अर्थमें प्रधानतया ध्यानशब्द प्रयुक्त है। ध्यानके लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदिका विस्तृत वर्णन अनेक जैन आगमोंमें[२] है। आगमके बाद निर्युक्तिका[३] नंबर है। उसमें भी आगमगत ध्यानका ही स्पष्टीकरण है। वाचक उमास्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्रमें भी ध्यानका वर्णन[४] है, पर उसमें

---

१ दिवसस्स चउरो भाए, कुज्जा भिक्खु विअक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि॥ ११॥
पढमं पोरिसि सज्झायं, बिइअं झाणं झिआयइ।
तइआए गोअरकालं, पुणो चउत्थिए सज्झायं॥ १२॥
रत्तिं पि चउरो भाए भिक्खु कुज्जा विअक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा राईभागेसु चउसु वि॥ १७॥
पढमं पोरिसि सज्झायं बिइअं झाणं झिआयइ।
तइआए निद्दमोक्खं तु चउत्थिए भुज्जो वि सज्झायं॥ १८॥

उत्तराध्ययन अ० २६।

२ देखो स्थानाङ्ग अ० ४ उद्देश १। समवायाङ्ग स० ४। भगवती शतक—२५ उद्देश ७। उत्तराध्ययन अ० ३० श्लो० ३५।

३ देखो आवश्यकनिर्युक्ति कायोत्सर्ग अध्ययन गा. १४६२ —१४८६। ४ देखो अ० ९ सू० २७ से आगे।

आगम और निर्युक्तिकी अपेक्षा कोई अधिक बात नहीं है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणका ध्यानशतक[1] आगमादि उक्त ग्रन्थोंमे वर्णित ध्यानका स्पष्टीकरण मात्र है, यहां तकके योगविषयक जैन विचारोंमें आगमोक्त वर्णनकी शैली ही प्रधान रही है। पर इस शैलीको श्रीमान् हरिभद्रसूरिने एकदम बदलकर तत्कालीन परिस्थिति व लोकरुचिके अनुसार नवीन परिभाषा दे कर और वर्णनशैली अपूर्वसी बनाकर जैन योग-साहित्यमें नया युग उपस्थित किया। इसके सबूतमें उनके बनाये हुए योगविन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, योगशतक[2] और षोडशक ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें उन्होंने सिर्फ जैन-मार्गानुसार योगका वर्णन करके ही संतोष नहीं माना है, किन्तु पातञ्जलयोगसूत्रमें वर्णित योगप्रक्रिया और उसकी खास परिभाषाओंके साथ जैन संकेतोंका मिलान भी किया है[3]। योगदृष्टिसमुच्चयमें

---

१ देखो हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति प्रतिक्रमणाध्ययन पृ० ५८१

२ यह ग्रन्थ जैन ग्रन्थावलिमें उल्लिखित है पृ० ११३।

३ समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥ ४१८ ॥
असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्स्वरूपानुवेधतः ॥४२०॥ इत्यादि.

योगविन्दु।

योगकी आठ दृष्टियोंका जो वर्णन [१]है, वह सारे योगसाहित्यमें एक नवीन दिशा है।

श्रीमान् हरिभद्रसूरिके योगविषयक ग्रन्थ उनकी योगाभिरुचि और योगविषयक व्यापक बुद्धिके खासे नमूने हैं।

इसके वाद श्रीमान् हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्रका नंबर आता है। उसमें पातञ्जल-योगशास्त्र-निर्दिष्ट आठ योगांगोंके क्रमसे साधु और गृहस्थ जीवनकी आचार-प्रक्रियाका जैन शैलीके अनुसार वर्णन है, जिसमें आसन तथा प्राणायामसे संबन्ध रखनेवाली अनेक वातोंका विस्तृत स्वरूप है; जिसको देखनेसे यह जान पडता है कि तत्कालीन लोगोंमें हठयोग-प्रक्रियाका कितना अधिक प्रचार था। हेमचन्द्राचार्यने अपने योगशास्त्रमें हरिभद्रसूरिके योगविषयक ग्रन्थोंकी नवीन परिभाषा और रोचक शैलीका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, पर शुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्णवगत पदस्थ, पिण्डस्थ,

---

१ मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥ १३ ॥

इन आठ दृष्टियोंका स्वरूप, दृष्टान्त आदि विषय, योगजिज्ञासुओंके लिये देखने योग्य है। इसी विषयपर यशोविजयजीने २१, २२, २३, २४ ये चार द्वात्रिंशिकायें लिखी हैं। साथ ही उन्होंने संस्कृत न जाननेवालोंके हितार्थ आठ दृष्टियोंकी सज्झाय भी गुजराती भाषामें बनाई है।

रूपस्थ, और रूपातीत ध्यानका विस्तृत व स्पष्ट वर्णन किया[1] है। अन्तमें उन्होंने स्वानुभवसे विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन ऐसे मनके चार भेदोंका वर्णन करके नवीनता लानेका भी खास कौशल दिखाया[2] है। निस्सन्देह उनका योगशास्त्र जैनतत्त्वज्ञान और जैनआचारका एक पाठ्य ग्रन्थ है।

इसके बाद उपाध्याय-श्रीयशोविजयकृत योगग्रन्थोंपर नजर ठहरती है। उपाध्यायजीका शास्त्रज्ञान, तर्ककौशल और योगानुभव बहुत गम्भीर था। इससे उन्होंने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् तथा सटीक बत्तीस बत्तीसीयाँ योग संबन्धी विषयोंपर लिखी हैं, जिनमें जैन मन्तव्योंकी सूक्ष्म और रोचक मीमांसा करनेके उपरान्त अन्य दर्शन और जैनदर्शनका मिलान भी किया[3] है। इसके सिवा

---

१. देखो प्रकाश ७-१० तक। २ १२ वाँ प्रकाश श्लोक २-३-४। ३. अध्यात्मसारके योगाधिकार और ध्यानाधिकारमें प्रधानतया भगवद्गीता तथा पातञ्जलसूत्रका उपयोग करके अनेक जैनप्रक्रियाप्रसिद्ध ध्यानविषयोंका उक्त दोनों ग्रन्थोंके साथ समन्वय किया है, जो बहुत ध्यानपूर्वक देखने योग्य है। अध्यात्मोपनिषद्के शास्त्र, ज्ञान, क्रिया और साम्य इन चारों योगोंमें प्रधानतया योगवाशिष्ठ तथा तैत्तिरीय उपनिषद्के वाक्योंका अवतरण दे कर तात्त्विक ऐक्य बतलाया है। योगावतार बत्तीसीमें खास कर पातञ्जल योगके पदार्थोंका जैनप्रक्रियाके अनुसार स्पष्टीकरण किया है।

उन्होंने हरिभद्रसूरिकृत योगविंशिका तथा षोडशकपर टीका लिख कर प्राचीन गूढ तत्त्वोंका स्पष्ट उद्‍घाटन भी किया है। इतना ही करके वे सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने महर्षि-पतञ्जलिकृत योगसूत्रोंके उपर एक छोटीसी वृत्ति भी लिखी है। यह वृत्ति जैन प्रक्रियाके अनुसार लिखी हुई है, इसलिये उसमें यथासंभव योगदर्शनकी भित्ति-स्वरूप सांख्य-प्रक्रियाका जैनप्रक्रियाके साथ मिलान भी किया है, और अनेक स्थलोंमें उसका सयुक्तिक प्रतिवाद भी किया है। उपाध्यायजीने अपनी विवेचनामें जो मध्यस्थता, गुणग्राहकता, सूक्ष्म समन्वयशक्ति और स्पष्टभाषिता दिखाई है[१] ऐसी दूसरे आचार्योंमें बहुत कम नजर आती है।

एक योगसार नामक ग्रन्थ भी श्वेताम्बर साहित्यमें है। कर्ताका उल्लेख उसमें नहीं है, पर उसके दृष्टान्त आदि वर्णनसे जान पडता है कि हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रके

---

१. इसके लिये उनका ज्ञानसार जो उन्होंने अंतिम जीवनमें लिखा मालूम होता है वह ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। शास्त्रवार्तासमुच्चयकी उनकी टीका(पृ० १०)भी देखनी आवश्यक है।

२. इसके लिये उनके शास्त्रवार्तासमुच्चयादि ग्रन्थ ध्यानपूर्वक देखने चाहिये, और खास कर उनकी पातञ्जल सूत्रवृत्ति मननपूर्वक देखनेसे हमारा कथन अक्षरशः विश्वसनीय मालूम पडेगा।

आधारपर किसी श्वेताम्बर आचार्यके द्वारा वह रचा गया है। दिगम्बर साहित्यमें ज्ञानार्णव तो प्रसिद्ध ही है, पर ध्यानसार और योगप्रदीप ये दो हस्तलिखित ग्रन्थ भी हमारे देखनेमें आये हैं, जो पद्यबन्ध और प्रमाणमें छोटे हैं। इसके सिवाय श्वेताम्बर दिगम्बर संप्रदायके योगविषयक ग्रन्थोंका कुछ विशेष परिचय जैन ग्रन्थावलि पृ० १०६ से भी मिल सकता है। बस यहांतकहीमें जैन योगसाहित्य समाप्त हो जाता है।

बौद्ध सम्प्रदाय भी जैन सम्प्रदायकी तरह निवृत्तिप्रधान है। भगवान् गौतम बुद्धने बुद्धत्व प्राप्त होनेसे पहले छह वर्ष-तक मुख्यतया ध्यानद्वारा योगाभ्यास ही किया। उनके हजारों शिष्य भी उसी मार्ग पर चले। मौलिक बौद्धग्रन्थों-में जैन आगमोंके समान योग अर्थमें बहुधा ध्यान शब्द ही मिलता है, और उनमें ध्यानके चार भेद नजर आते हैं। उक्त चार भेदके नाम तथा भाव प्रायः वही हैं, जो जैनदर्शन तथा योगदर्शनकी प्रक्रियामें हैं[1]। बौद्ध सम्प्रदायमें समाधि-

१. सो खो अहं ब्राह्मण विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुस-लेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पढमज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; वितक्क विचारानं वूपसमा अज्झत्तं संपसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुति-यज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; पीतिया च विरागा उपेक्खको च

राज नामक ग्रन्थ भी है। वैदिक जैन और बौद्ध संप्रदायके योगविषयक साहित्यका हमने बहुत संक्षेपमें अत्यावश्यक परिचय कराया है, पर इसके विशेष परिचयके लिये–कॅटॅ्-लोगस् कॅटलॉगॉरम्, वो० १ पृ० ४७७ से ४८१ पर जो योगविषयक ग्रन्थोंकी नामावलि है वह देखने योग्य है।

विहासिं; सतो च संपजानो सुखं च कायेन पटिसंवेदेसिं, यं तं अरिया आचिक्खन्ति–उपेक्खको सतिमा सुखविहारीऽति ततियज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बऽव सोमनस्स दोमनस्सानं अत्थंगमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासति पारिसुद्धिं चतुत्थज्झानं उपसंपज्ज मज्झिमनिकाये भयभेखसुत्तं विहासिं।

इन्हीं चार ध्यानोंका वर्णन दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्तमें है। देखो प्रो. सि. वि. राजवाडे कृत मराठी अनुवाद पृ. ७२।

वही विचार प्रो. धर्मानंद कौशाम्बी लिखित बुद्धलीलासार संग्रहमें है। देखो पृ. १२८।

जैनसूत्रमें शुक्लध्यानके भेदोंका विचार है, उसमें उक्त सवितर्क आदि चार ध्यान जैसा ही वर्णन है। देखो तत्त्वार्थ अ० ९ सू० ४१–४४।

योगशास्त्रमें संप्रज्ञात समाधि तथा समापत्तिओंका वर्णन है। उसमें भी उक्त सवितर्क निर्वितर्क आदि ध्यान जैसा ही विचार है। पा. सू. पा. १–१७, ४२, ४३, ४४।

१ थिओडोरे आउफ्रेक्टकृत लिप्झिगमें प्रकाशित १८९१ की आवृत्ति।

यहां एक बात खास ध्यान देनेके योग्य है, वह यह कि यद्यपि वैदिक साहित्यमें अनेक जगह हठयोगकी प्रथाको अग्राह्य कहा[1] है, तथापि उसमें हठयोगकी प्रधानतावाले अनेक ग्रन्थोंका और मार्गोंका निर्माण हुआ है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्यमें हठयोगने स्थान नहीं पाया है, इतना ही नहीं, बल्कि उसमें हठयोगका स्पष्ट निषेध भी किया[2] है।

---

१ उदाहरणार्थः—

सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥ ३७ ॥
विमूढा कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम् ।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥ ३८ ॥
चित्तं चित्तस्य वाऽदूरं संस्थितं स्वशरीरकम् ।
साधयन्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान्हतान् विदुः ॥३९॥

योगवाशिष्ठ—उपशम प्र० सर्ग ९२.

२ इसके उदाहरणमें बौद्ध धर्ममें बुद्ध भगवान्‌ने तो शुरुमें कष्टप्रधान तपस्याका आरंभ करके अंतमें मध्यमप्रतिपदा मार्गका स्वीकार किया है–देखो बुद्धलीलासारसंग्रह.

जैनशास्त्रमें श्रीभद्रबाहुस्वामिने आवश्यकनिर्युक्तिमें "ऊसासं ण णिरुंभइ" १५२० इत्यादि उक्तिसे हठयोगका ही निराकरण किया है। श्रीहेमचन्द्राचार्यने भी आपने योगशास्त्रमें

योगशास्त्र—ऊपरके वर्णनसे मालूम हो जाता है कि-योगप्रक्रियाका वर्णन करनेवाले छोटे बडे अनेक ग्रन्थ हैं। इन सब उपलब्ध ग्रन्थोंमें महर्षि-पतञ्जलिकृत योगशास्त्रका आसन ऊंचा है। इसके तीन कारण हैं-१ ग्रन्थकी संक्षिप्तता तथा सरलता, २ विषयकी स्पष्टता तथा पूर्णता, ३ मध्यस्थभाव तथा अनुभवसिद्धता। यही कारण है कि योगदर्शन यह नाम सुनते ही सहसा पातञ्जल योगसूत्रका स्मरण हो आता है। श्रीशंकराचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें योगदर्शनका प्रतिवाद करते हुए जो "अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः" ऐसा उल्लेख किया[1] है, उससे इस बातमें कोई संदेह नहीं रहता कि उनके सामने पातञ्जल योगशास्त्रसे भिन्न दूसरा कोइ योगशास्त्र रहा है। क्यों कि पातञ्जल योगशास्त्रका आरम्भ "अथ योगानुशासनम्" इस सूत्रसे होता है, और उक्त भाष्योल्लिखित वाक्यमें भी ग्रन्थारम्भसूचक अथ शब्द है, यद्यपि उक्त भाष्यमें

"तन्नोऽप्नोति मनःस्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितं। प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यात् चित्तविप्लवः॥" इत्यादि उक्तिसे उसी बातको दोहराया है। श्रीयशोविजयजीने भी पातञ्जलयोगसूत्रकी अपनी वृत्तिमें (१-३४) प्राणायामको योगका अनिश्चित साधन कह कर हठयोगका ही निरसन किया है।

१ ब्रह्मसूत्र -१-३ भाष्यगत।

अन्यत्र और भी योगसम्बन्धी दो[1] उल्लेख हैं, जिनमें एक तो पातञ्जल योगशास्त्रका संपूर्ण सूत्र ही है,[2] और दूसरा उसका अविकल सूत्र नहीं, किन्तु उसके सूत्रसे मिलता जुलता[3] है। तथापि " अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः " इस उल्लेखकी शब्दरचना और स्वतन्त्रताकी ओर ध्यान देनेसे यही कहना पडता है कि पिछले दो उल्लेख भी उसी भिन्न योगशास्त्रके होने चाहिये, जिसका कि अंश " अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः " यह वाक्य माना जाय। अस्तु, जो कुछ हो, आज हमारे सामने तो पतञ्जलिका ही योगशास्त्र उपस्थित है, और वह सर्वप्रिय है। इसलिये बहुत संक्षेपमें भी उसका बाह्य तथा आन्तरिक परिचय कराना अनुपयुक्त न होगा।

इस योगशास्त्रके चार पाद और कुल सूत्र १६५ हैं। पहले पादका नाम समाधि, दूसरेका साधन, तीसरेका विभूति,

---

१ " स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः " ब्रह्मसूत्र १–३–३३ भाष्यगत। योगशास्त्रप्रसिद्धाः मनसः पञ्च वृत्तयः परिगृह्यन्ते, "प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः नाम" २–४–१२ भाष्यगत।

पं वासुदेव शास्त्री अभ्यंकरने अपने ब्रह्मसूत्रके मराठी अनुवादके परिशिष्टमें उक्त दो उल्लेखोंका योगसूत्ररूपसे निर्देश किया है, पर "अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः" इस उल्लेखके संबंधमें कहीं भी ऊहापोह नहीं किया है.

२ मिलाओ पा. २ सू. ४४। ३ मिलाओ पा. १ सू. ६।

और चोथेका कैवल्यपाद है। प्रथमपादमें मुख्यतया योगका स्वरूप, उसके उपाय और चित्तस्थिरताके उपायोंका वर्णन है। दूसरे पादमें क्रियायोग, आठ योगाङ्ग, उनके फल तथा चतुर्व्यूह[1]का मुख्य वर्णन है॥

तीसरे पादमें योगजन्य विभूतियोंके वर्णनकी प्रधानता है। और चोथे पादमें परिणामवादके स्थापन, विज्ञानवादके निराकरण तथा कैवल्य अवस्थाके स्वरूपका वर्णन मुख्य है। महर्षि पतञ्जलिने अपने योगशास्त्रकी नींव सांख्यसिद्धान्तपर डाली है। इसलिये उसके प्रत्येक पादके अन्तमें "योगशास्त्रे सांख्यप्रवचने" इत्यादि उल्लेख मिलता है। "सांख्यप्रवचने" इस विशेषणसे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि सांख्यके सिवाय अन्यदर्शनके सिद्धांतोंके आधारपर भी रचे हुए योगशास्त्र उस समय मौजुद थे या रचे जाते थे इस योगशास्त्रके ऊपर अनेक छोटे बडे टीका ग्रन्थ[2] हैं, पर

---

१ हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय ये चतुर्व्यूह कहलाते हैं। इनका वर्णन सूत्र १६–२६ तकमें है।

२ व्यास कृत भाष्य, वाचस्पतिकृत तत्त्ववैशारदी टीका, भोजदेवकृत राजमार्तंड, नागोजीभट्ट कृत वृत्ति, विज्ञानभिक्षु कृत वार्तिक, योगचान्द्रिका, मणिप्रभा, भावागणेशीय वृत्ति, बालरामोदासीन कृत टिप्पण आदि।

व्यासकृत भाष्य और वाचस्पतिकृत टीकासे उसकी उपादेयता बहुत बढ़ गई है।

सब दर्शनोंके अन्तिम साध्यके सम्बन्धमें विचार किया जाय तो उसके दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम पक्षका अन्तिम साध्य शाश्वत सुख नहीं है। उसका मानना है कि मुक्तिमें शाश्वत सुख नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, उसमें जो कुछ है वह दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही। दूसरा पक्ष शाश्वतिक सुखलाभको ही मोक्ष कहता है। ऐसा मोक्ष हो जानेपर दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति आप ही आप हो जाती है। वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग और बौद्ध-दर्शन प्रथम पक्षके अनुगामी हैं। वेदान्त और जैनदर्शन, दूसरे पक्षके अनुगामी हैं।

---

१ " तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः " न्यायदर्शन १—१—२२। २ ईश्वरकृष्णकारिका १। ३ उसमें हानतत्त्व मान कर दुःखके आत्यन्तिक नाशको ही हान कहा है। ४ बुद्ध भगवान्‌के तीसरे निरोध नामक आर्यसत्यका मतलब दुःख नाशसे है। ५ वेदान्त दर्शनमें ब्रह्मको सच्चिदानंदस्वरूप माना है, इसीलिये उसमें नित्यसुखकी अभिव्यक्तिका नाम ही मोक्ष है। ६ जैन दर्शनमें भी आत्माको सुखस्वरूप माना है, इसलिये मोक्षमें स्वाभाविक सुखकी अभिव्यक्ति ही उस दर्शनको मान्य है।

योगशास्त्रका विषय-विभाग उसके अन्तिमसाध्यानुसार ही है। उसमें गौण मुख्य रूपसे अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, पर उन सबका संक्षेपमें वर्गीकरण किया जाय तो उसके चार विभाग हो जाते हैं। १ हेय २ हेय-हेतु ३ हान ४ हानोपाय। यह वर्गीकरण स्वयं सूत्रकारने किया है। और इसीसे भाष्यकारने योगशास्त्रको चतुर्व्यूहात्मक[1] कहा है। सांख्यसूत्रमें भी यही वर्गीकरण है। बुद्ध भगवान्ने इसी चतुर्व्यूहको आर्य-सत्य नामसे प्रसिद्ध किया है। और योगशास्त्रके आठ योगाङ्गोंकी तरह उन्होंने चौथे आर्य-सत्यके साधनरूपसे आर्य अष्टाङ्गमार्गका[2] उपदेश किया है।

दुःख हेय[3] है, अविद्या[4] हेयका कारण है, दुःखका

---

१ यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। पा० २ सू० १५ भाष्य।

२ सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बुद्धलीलासार संग्रह, पृ. १५०। ३ "दुःखं हेयमनागतम्" २-१६ यो. सू.। ४ "द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः २-१७। "तस्य हेतुरविद्या" २-२४

आत्यन्तिक नाश हान[1] है, और विवेक-ख्याति हानका उपाय[2] है।

उक्त वर्गीकरणकी अपेक्षा दूसरी रीतिसे भी योगशास्त्रका विषय-विभाग किया जा सकता है। जिससे कि उसके मन्तव्योंका ज्ञान विशेष स्पष्ट हो। यह विभाग इस प्रकार है-१ हाता. २ ईश्वर ३ जगत् ४ संसार-मोक्षका स्वरूप, और उसके कारण।

१ हाता दुःखसे छुटकारा पानेवाले द्रष्टा अर्थात् चेतनका नाम है। योग-शास्त्रमें सांख्य[3] वैशेषिक[4], नैयायिक, बौद्ध, जैन[5] और पूर्णप्रज्ञ (मध्व[6]) दर्शनके समान द्वैतवाद

---

१ "तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्" २-२६ यो. सू। २ "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" २-२६. यो. सू। ३ "पुरुषबहुत्वं सिद्धं" ईश्वरकृष्णकारिका-१८। ४ "व्यवस्थातो नाना"-३-२-२०-वैशेषिकदर्शन। ५ "पुद्गलजीवास्त्वनेकद्रव्याणि"-५-५. तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य।

६ जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥
मिथश्च जडभेदो यः प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।
सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात्॥
सर्वदर्शनसंग्रह पूर्णप्रज्ञदर्शन॥

अर्थात् अनेक चेतन माने गये हैं।

योगशास्त्र चेतनको जैन दर्शनकी तरह देहप्रमाण अर्थात् मध्यमपरिमाणवाला नहीं मानता, और मध्वसम्प्रदायकी तरह अणुप्रमाण भी नहीं मानता[3], किन्तु सांख्य[4], वैशेषिक[5], नैयायिक और शांकरवेदान्त[6]की तरह वह उसको व्यापक मानता है[7]।

इसी प्रकार वह चेतनको जैनदर्शनकी तरह परिणामि–

---

१ "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्" २–२२ यो. सू.। २. "असंख्येयभागादिषु जीवानाम्"। १५। "प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्" १६–तत्त्वार्थसूत्र अ० ५।

३. देखो "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्"। ब्रह्मसूत्र २–३–१८ पूर्णप्रज्ञ भाष्य। तथा मिलान करो अभ्यंकरशास्त्री कृत मराठी शांकरभाष्य अनुवाद भा. ४ पृ. १५३ टिप्पण ४६।

४. "निष्क्रियस्य तदसम्भवात्" सां. सू. १–४६. निष्क्रियस्य–विभोः पुरुषस्य गत्यसम्भवात्–भाष्य विज्ञानभिक्षु।

५. विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा।" ७-१-२२-वै. द.।

६. देखो ब्र. सू. २–३–२९. भाष्य।

७. इसलिये कि योगशास्त्र आत्मस्वरूपके विषयमें सांख्य-सिद्धान्तानुसारी है।

८. "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" ३। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"। २९। "तद्भावाव्ययं नित्यम्" ३०। तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ भाष्य सहित

नित्य नहीं मानता, और न बौद्ध दर्शनकी तरह उसको क्षणिक–अनित्य ही मानता है, किन्तु सांख्य आदि उक्त शेष दर्शनोंकी तरह वह उसे कूटस्थ–नित्य मानता है।

२ ईश्वरके सम्बन्धमें योगशास्त्रका मत सांख्य दर्शनसे भिन्न है। सांख्य दर्शन नाना चेतनोंके अतिरिक्त ईश्वरको नहीं मानता, पर योगशास्त्र मानता है। योगशास्त्र–सम्मत ईश्वरका स्वरूप नैयायिक, वैशेषिक आदि दर्शनोंमें माने गये ईश्वरस्वरूपसे कुछ भिन्न है। योगशास्त्रने ईश्वरको एक अलग व्यक्ति तथा शास्त्रोपदेशक माना है सही, पर उसने नैयायिक आदिकी तरह ईश्वरमें नित्यज्ञान, नित्यइच्छा और नित्यकृतिका सम्बन्ध न मान कर इसके स्थानमें सत्त्वगुणका

---

१. देखो ई० कृ० कारिका ६३ सांख्यतत्त्वकौमुदी। देखो न्यायदर्शन ४–१–१०। देखो ब्रह्मसूत्र २–१–१४। २–१–२७। शांकरभाष्य सहित।

२. देखो योगसूत्र. "सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्य अपरिणामित्वात्" ४–१८। "चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाऽकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्" ४–२२। तथा "द्वयी चेयं नित्यता, कूटस्थ-नित्यता, परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्" इत्यादि ४–३३–भाष्य।

३ देखो सांख्यसूत्र १–९२ आदि।

परमप्रकर्ष मान कर तद्द्वारा जगत्‌उद्धारादिकी सब व्यवस्था घटा दी है।

३ योगशास्त्र दृश्य जगत्‌को न तो जैन, वैशेषिक, नैयायिक दर्शनोंकी तरह परमाणुका परिणाम मानता है, न शांकरवेदान्तदर्शनकी तरह ब्रह्मका विवर्त या ब्रह्मका परिणाम ही मानता है, और न बौद्धदर्शनकी तरह शून्य या विज्ञानात्मक ही मानता है, किन्तु सांख्य दर्शनकी तरह वह उसको प्रकृतिका परिणाम तथा अनादि-अनन्त-प्रवाह-स्वरूप मानता है।

४ योगशास्त्रमें वासना, क्लेश और कर्मका नाम ही संसार, तथा वासनादिका अभाव अर्थात् चेतनके स्वरूपावस्थानका नाम ही मोक्ष[2] है। उसमें संसारका मूल कारण अविद्या और मोक्षका मुख्य हेतु सम्यग्दर्शन अर्थात् योगजन्य विवेकख्याति माना गया है।

महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता—यह पहले

---

१ यद्यपि यह व्यवस्था मूल योगसूत्रमें नहीं है, परन्तु भाष्यकार तथा टीकाकारने इसका उपपादन किया है। देखो पातञ्जल यो. सू. पा. १ सू. २४ भाष्य तथा टीका।

२ तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थानम्। १-३ योगसूत्र।

कहा जा चुका है कि सांख्य सिद्धान्त और उसकी प्रक्रियाको ले कर पतञ्जलिने अपना योगशास्त्र रचा है, तथापि उनमें एक ऐसी विशेषता अर्थात् दृष्टिविशालता नजर आती है जो अन्य दार्शनिक विद्वानोंमें बहुत कम पाई जाती है। इसी विशेषताके कारण उनका योगशास्त्र मानों सर्वदर्शन-समन्वय बन गया है। उदाहरणार्थ सांख्यका निरीश्वरवाद जब वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शनोंके द्वारा अच्छी तरह निरस्त हो गया और साधारण लोक-स्वभावका झुकाव भी ईश्वरोपासनाकी ओर विशेष मालूम पडा, तब अधिकारि-भेद तथा रूचिविचित्रताका विचार करके पतञ्जलिने अपने योगमार्गमें ईश्वरोपासनाको भी स्थान[1] दिया, और ईश्वरके स्वरूपका उन्होंने निष्पक्ष भावसे ऐसा निरूपण[2] किया है जो सबको मान्य हो सके।

पतञ्जलिने सोचा कि उपासना करनेवाले सभी लोगोंका साध्य एक ही है, फिर भी वे उपासनाकी भिन्नता और उपासनामें उपयोगी होनेवाली प्रतीकोंकी भिन्नताके व्या-

---

१ " ईश्वरप्रणिधानाद्वा " १–२३।

२ " क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः " " तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् " । "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात् " । (१–२४, २५, २६)

मोहमें अज्ञानवश आपस आपसमें लड मरते हैं, और इस धार्मिक कलहमें अपने साध्यको लोक भूल जाते हैं। लोगोंको इस अज्ञानसे हटा कर सत्पथपर लानेके लिये उन्होंने कह दिया कि तुम्हारा मन जिसमें लगे उसीका ध्यान करो। जैसी प्रतीक तुम्हें पसंद आवे वैसी प्रतीककी ही उपासना करो, पर किसी भी तरह अपना मन एकाग्र व स्थिर करो। और तद्द्वारा परमात्म-चिन्तनके सच्चे पात्र बनो। इस उदारताकी मूर्तिस्वरूप मतभेदसहिष्णु आदेशके द्वारा पतञ्जलिने सभी उपासकोंको योग-मार्गमें स्थान दिया, और ऐसा करके धर्मके नामसे होनेवाले कलहको कम करनेका उन्होंने सच्चा मार्ग लोगोंको बतलाया।

---

१ "यथाऽभिमतध्यानाद्वा". १-३६

इसी भावकी सूचक महाभारतमें—

ध्यानमुत्पादयत्यत्र, संहिताबलसंश्रयात्
यथाभिमतमन्त्रेण, प्रणवाद्यं जपेत्कृती ॥

शान्तिपर्व प्र० १६४ श्लो. २०

यह उक्ति है। और योगवाशिष्ठमें—

यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात्।
एकतत्त्वघनाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

उपशम प्रकरण सर्ग ७८ श्लो. १६।

यह उक्ति है।

उनकी इस दृष्टिविशालताका असर अन्य गुण-ग्राही आचार्योंपर भी पडा, और वे उस मतभेदसहिष्णुताके तत्त्वका मर्म समझ गये।

---

१. पुष्पैश्च बलिना चैव वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः ।
देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥
अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा ।
गृहिणां माननीया यत्सर्वे देवा महात्मनाम् ॥
सर्वान्देवान्नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः ।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥
चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः ।
नान्यथात्रेष्टसिद्धिः स्याद्विशेषेणादिकर्मणाम् ॥
गुणाधिक्यपरिज्ञानाद्विशेषेऽप्येतदिष्यते ।
अद्वेषेण तदन्येषां वृत्ताधिक्ये तथात्मनः ॥

योगविन्दु श्लो. १६-२०

जो विशेषदर्शी होते हैं, वे तो कीसी प्रतीक विशेष या उपासना विशेषको स्वीकार करते हुए भी अन्य प्रकारकी प्रतीक माननेवालों या अन्य प्रकारकी उपासना करनेवालोंसे द्वेष नहीं रखते, पर जो धर्माभिमानी प्रथमाधिकारी होते हैं वे प्रतीकभेद या उपासनाभेदके व्यामोहसे ही आपसमें लड मरते हैं। इस अनिष्ट तत्त्वको दूर करनेके लिये ही श्रीमान् हरिभद्रसूरिने उक्त पद्योंमें प्रथमाधिकारीके लिये सब देवोंकी उपासनाको लाभदायक बत-

वैशेषिक, नैयायिक आदिकी ईश्वरविषयक मान्यताका तथा साधारण लोगोंकी ईश्वरविषयक श्रद्धाका योगमार्गमें उपयोग करके ही पतञ्जलि चुप न रहे, पर उन्होंने वैदिके-

---

त्तानेका उदार प्रयत्न किया है। इस प्रयत्नका अनुकरण श्रीयशोविजयजीने भी अपनी "पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका" "आठदृष्टियोंकी सज्झाय" आदि ग्रन्थोंमें किया है। एकदेशीयसम्प्रदायाभिनिवेशी लोगोंको समजानेके लिये 'चारिसंजीवनीचार' न्यायका उपयोग उक्त दोनों आचार्योंने किया है। यह न्याय बडा मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है।

इस समभावसूचक दृष्टान्तका उपनय श्रीज्ञानविमलने आठदृष्टिकी सज्झाय पर किये हुए अपने गूजराती टबेमें बहुत अच्छी तरह घटाया है, जो देखने योग्य है। इसका भाव संक्षेपमें इस प्रकार है। कीसी स्त्रीने अपनी सखीसे कहा कि मेरा पति मेरे अधीन न होनेसे मुझे बडा कष्ट है, यह सुन कर उस आगन्तुक सखीने कोई जडी खिला कर उस पुरुषको बैल बना दिया, और वह अपने स्थानको चली गई। पतिके बैल बनजानेसे उसकी पत्नी दुःखित हुई, पर फिर वह पुरुषरूप बनानेका उपाय न जाननेके कारण उस बैलरूप पतिको चराया करती थी, और उसकी सेवा किया करती थी। कीसी समय अचानक एक विद्याधरके मुखसे ऐसा सुना कि अगर बैलरूप पुरुषको संजीवनी नामक जडी चराई जाय तो वह फिर असली रूप

तर दर्शनोंके सिद्धान्त तथा प्रक्रिया जो योगमार्गके लिये सर्वथा उपयोगी जान पडी उसका भी अपने योगशास्त्रमें बडी उदारतासे संग्रह किया। यद्यपि बौद्ध विद्वान् नागार्जुनके विज्ञानवाद तथा आत्मपरिणामित्ववादको युक्तिहीन समझ कर या योगमार्गमें अनुपयोगी समझ कर उसका निरसन चौथे पादमें किया है, तथापि उन्होंने बुद्धभगवान्के परमप्रिय चार आर्यसत्योंका हेय, हेयहेतु, हान और होनोपाय रूपसे स्वीकार निःसंकोच भावसे अपने योगशास्त्रमें किया है।

धारण कर सकता है। विद्याधरसे यह भी सुना कि वह जडी अमुक वृक्षके नीचे है, पर उस वृक्षके नीचे अनेक प्रकारकी वनस्पति होनेके कारण वह स्त्री संजीवनीको पहचाननेमें असमर्थ थी। इससे उस दुःखित स्त्रीने अपने बैलरूपधारि पतिको सब वनस्पतियाँ चरा दीं। जिनमें संजीवनीको भी वह बैल चर गया, और बैलरूप छोड कर फिर मनुष्य बन गया। जैसे विशेष परीक्षा न होनेके कारण उस स्त्रीने सब वनस्पतियोंके साथ संजीवनी खिला कर अपने पतिका कृत्रिम बैलरूप छुडाया, और असली मनुष्यत्वको प्राप्त कराया, वैसे ही विशेष परीक्षाविकल प्रथमाधिकारी भी सब देवोंकी समभावसे उपासना करते करते योगमार्गमें विकास करके इष्ट लाभ कर सकता है।

१ देखो सू० १५, १८।

२ दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग।

जैन दर्शनके साथ योगशास्त्रका सादृश्य तो अन्य सब दर्शनोंकी अपेक्षा अधिक ही देखनेमें आता है। यह बात स्पष्ट होनेपर भी बहुतोंको विदित ही नहीं है, इसका सबब यह है कि जैनदर्शनके खास अभ्यासी ऐसे बहुत कम हैं जो उदारता पूर्वक योगशास्त्रका अवलोकन करनेवाले हों, और योगशास्त्रके खास अभ्यासी भी ऐसे बहुत कम हैं जिन्होंने जैनदर्शनका बारीकीसे ठीक ठीक अवलोकन किया हो। इसलिये इस विषयका विशेष खुलासा करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

योगशास्त्र और जैनदर्शनका सादृश्य मुख्यतया तीन प्रकारका है। १ शब्दका, २ विषयका और ३ प्रक्रियाका।

१ मूल योगसूत्रमें ही नहीं किन्तु उसके भाष्यतकमें ऐसे अनेक शब्द हैं जो जैनेतर दर्शनोंमें प्रसिद्ध नहीं हैं, या बहुत कम प्रसिद्ध हैं, किन्तु जैन शास्त्रमें खास प्रसिद्ध हैं। जैसे—भवप्रत्यय[1], सवितर्क सविचार निर्विचार[2], महाव्रत[3], कृत

---

१ "भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्" योगसू. १–१९। "भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्" तत्त्वार्थ अ. १–२२।

२ ध्यानविशेषरूप अर्थमें ही जैनशास्त्रमें ये शब्द इस प्रकार हैं "एकाश्रये सवितर्के पूर्वे" (तत्त्वार्थ अ. ९–४३) "तत्र

कारित अनुमोदितँ, प्रकाशावरणँ, सोपक्रम निरूपक्रमँ, वज्रसं-

सविचारं प्रथमम् " भाष्य " अविचारं द्वितीयम् " तत्त्वा–अ ६–४४ । योगसूत्रमें ये शब्द इस प्रकार आये हैं—"तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः" "स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का" "एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता " १–४२, ४३, ४४ ।

३ जैनशास्त्रमें मुनिसम्बन्धी पाँच यमोंके लिये यह शब्द बहुत ही प्रसिद्ध है । " सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति " तत्त्वार्थ अ० ७–२ भाष्य । यही शब्द उसी अर्थमें योगसूत्र २–३१ में है ।

४ ये शब्द जिस भावके लिये योगसूत्र २–३१ में प्रयुक्त हैं, उसी भावमें जैनशास्त्रमें भी आते हैं, अन्तर सिर्फ इतना है कि जैनग्रन्थोंमें अनुमोदितके स्थानमें बहुधा अनुमत–शब्द प्रयुक्त होता है । देखो–तत्त्वार्थ, अ. ६–९ ।

५ यह शब्द योगसूत्र २–५२ तथा ३–४३ में है । इसके स्थानमें जैनशास्त्रमें ' ज्ञानावरण ' शब्द प्रसिद्ध है । देखो तत्त्वार्थ, अ. ६–११ आदि ।

६ ये शब्द योगसूत्र ३–२२ में हैं । जैन कर्मविषयक साहित्यमें ये शब्द बहुत प्रसिद्ध हैं । तत्त्वार्थमें भी इनका प्रयोग हुआ है, देखो—अ. २–५२ भाष्य ।

७ यह शब्द योगसूत्र (३–४६) में प्रयुक्त है । इसके स्थानमें जैन ग्रन्थोंमें ' वज्रऋषभनाराचसंहनन ' ऐसा शब्द मिलता है । देखो तत्त्वार्थ (अ० ८–१२) भाष्य ।

हनन, केवली[1], कुशल[2], ज्ञानावरणीयकर्म[3], सम्यग्ज्ञान[4], सम्यग्दर्शन[5], सर्वज्ञ[6], क्षीणक्लेश[7], चरमदेह[8] आदि।

२ प्रसुप्त, तनु आदिक्लेशावस्था[9], पाँच यम[10], योगज-

---

१ योगसूत्र (२–२७) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० ६–१४)।

२ देखो योगसूत्र (२–२७) भाष्य, तथा दशवैकालिकनिर्युक्ति गाथा १८६।

३ देखो योगसूत्र (२–५१) भाष्य, तथा आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ८६३।

४ योगसूत्र (२–२८) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० १–१)।

५ योगसूत्र (४–१५) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० १–२)।

६ योगसूत्र (३–४९) भाष्य, तत्त्वार्थ (३–४९)।

७ योगसूत्र (१–४) भाष्य। जैन शास्त्रमें बहुधा क्षीणमोह 'क्षीणकषाय' शब्द मिलते हैं। देखो तत्त्वार्थ (अ० ९–३८)।

८ योगसूत्र (२–४) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० २–५२)।

९ प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार अवस्थाओंका योगसूत्र (२–४) में वर्णन है। जैनशास्त्रमें वही भाव मोहनीयकर्मकी सत्ता, उपशमक्षयोपशम, विरोधिप्रकृतिके उदयादिकृत व्यवधान और उदयावस्थाके वर्णनरूपसे वर्तमान है। देखो योगसूत्र (२–४) की यशोविजयकृत वृत्ति।

१० पाँच यमोंका वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थोंमें है सही, पर

उसकी परिपूर्णता " जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् " (योगसूत्र २-३१) में तथा दशवैकालिक अध्ययन ४ आदि जैनशास्त्रप्रतिपादित महाव्रतोंमें देखनेमें आती है।

१ योगसूत्रके तीसरे पादमें विभूतियोंका वर्णन है, वे विभूतियाँ दो प्रकारकी हैं। १ वैज्ञानिक २ शारीरिक। अतीताऽनागतज्ञान, सर्वभूतरुतज्ञान, पूर्वजातिज्ञान, परचित्तज्ञान, भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, आदि ज्ञानविभूतियाँ हैं। अन्तर्धान, हस्तिबल, परकायप्रवेश, अणिमादि ऐश्वर्य तथा रूपलावण्यादि कायसंपत्, इत्यादि शारीरिक विभूतियाँ हैं। जैनशास्त्रमें भी अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, जातिस्मरणज्ञान, पूर्वज्ञान आदि ज्ञानलब्धियाँ हैं, और आमौषधि, विप्रुडौषधि, श्लेष्मौषधि, सर्वौषधि, जंघाचारण, विद्याचारण, वैक्रिय, आहारक आदि शारीरिक लब्धियाँ हैं। देखो आवश्यकनिर्युक्ति (गा० ६९, ७०) लब्धि यह विभूतिका नामान्तर है।

२ योगभाष्य और जैनग्रन्थोंमें सोपक्रम निरुपक्रम आयुष्कर्मका स्वरूप बिल्कुल एकसा है, इतना ही नहीं बल्कि उस स्वरूपको दिखाते हुए भाष्यकारने (यो. सू. ३-२२) के भाष्यमें आर्द्र वस्त्र और तृणराशिके जो दो दृष्टान्त लिखे हैं, वे आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा-९५६) तथा विशेषावश्यक भाष्य (गाथा-३०६१) आदि जैनशास्त्रमें सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, पर

तत्त्वार्थ (अ० –२५२) के भाष्यमें उक्त दो दृष्टान्तोंके उपरान्त एक तीसरा गणितविषयक दृष्टान्त भी लिखा है । इस विषयमें उक्त व्यासभाष्य और तत्त्वार्थभाष्यका शाब्दिक सादृश्य भी बहुत अधिक और अर्थसूचक है ।

" यथाऽऽर्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम् । यथा च तदेव सपिण्डितं चिरेण संशुष्येद् एवं निरुपक्रमम् । यथा चाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन वा समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम् । यथा वा स एवाऽग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम् (योग. ३-२२) भाष्य । यथाहि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति, तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशु दाहो भवति, तद्वत् । यथा वा संख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिंछेदादेवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थस्याभावो भवति,तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्त्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति ॥ किं चान्यत् । यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव संहतश्चिरेण शोषमुपयाति । स एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति । (अ०२–५२ भाष्य) ।

१ योगबलसे योगी जो अनेक शरीरोंका निर्माण करता

३ परिणामि-नित्यता अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य-रूपसे त्रिरूप वस्तु मान कर तदनुसार धर्मधर्मीका विवेचन इत्यादि।

इसी विचारसमताके कारण श्रीमान् हरिभद्र जैसे जैनाचार्योंने महर्षि पतञ्जलिके प्रति अपना हार्दिक आदर प्रकट करके अपने योगविषयक ग्रन्थोंमें गुणग्राहकताका निर्भीक

है, उसका वर्णन योगसूत्र (४-४) में है, यही विषय वैक्रिय-आहारक-लब्धिरूपसे जैनग्रन्थोंमें वर्णित है।

१ जैनशास्त्रमें वस्तुको द्रव्यपर्यायस्वरूप माना है। इसीलिये उसका लक्षण तत्त्वार्थ (अ० ५-२९) में "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" ऐसा किया है। योगसूत्र (३-१३, १४) में जो धर्मधर्मीका विचार है वह उक्त द्रव्यपर्यायउभयरूपता किंवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इस त्रिरूपताका ही चित्रण है। भिन्नता सिर्फ दोनोंमें इतनी ही है कि-योगसूत्र सांख्यसिद्धान्तानुसारी होनेसे "ऋते चितिशक्तेः परिणामिनो भावाः" यह सिद्धान्त मानकर परिणामवादका अर्थात् धर्मलक्षणावस्थापरिणामका उपयोग सिर्फ जडभागमें अर्थात् प्रकृतिमें करता है, चेतनमें नहीं। और जैनदर्शन तो "सर्वे भावाः परिणामिनः" ऐसा सिद्धान्त मानकर परिणामवाद अर्थात् उत्पादव्ययरूप पर्यायका उपयोग जड चेतन दोनोंमें करता है। इतनी भिन्नता होनेपर भी परिणामवादकी प्रक्रिया दोनोंमें एक सी है।

परिचय पूरे तोरसे दिया[1] है, और जगह जगह पतञ्जलिके योगशास्त्रगत खास साङ्केतिक शब्दोंका जैन सङ्केतोंके साथ मिलान करके सङ्कीर्ण-दृष्टिवालोंके लिये एकताका मार्ग खोल[2] दिया है। जैन विद्वान् यशोविजयवाचकने हरिभद्रसूरि-सूचित एकताके मार्गको विशेष विशाल बनाकर पतञ्जलिके योगसूत्रको जैन प्रक्रियाके अनुसार समझानेका थोडा किन्तु मार्मिक प्रयास किया[3] है। इतना ही नहीं बल्कि अपनी बत्तीसियोंमें उन्होंने पतञ्जलिके योगसूत्रगत कुछ विषयोंपर खास बत्तीसियाँ भी[4] रची हैं। इन सब बातोंको संक्षेपमें बतलानेका

१ उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः ॥

(योग. बिं. श्लो. ६६) टीका ' उक्तं च निरूपितं पुनः योगमार्गज्ञैरध्यात्मविद्भिः पतञ्जलिप्रभृतिभिः' ॥ "एतत्प्रधानः सच्छ्राद्धः शीलवान् योगतत्परः । जानात्यतीन्द्रियानर्थांस्तथा चाह महामतिः " ॥ (योगदृष्टिसमुच्चय श्लो. १००) टीका ' तथा चाह महामतिः पतञ्जलिः ' । ऐसा ही भाव गुणग्राही श्रीयशोविजयजीने अपनी योगावतारद्वात्रिंशिकामें प्रकाशित किया है । देखो-श्लो. २० टीका ।

२ देखो योगबिन्दु श्लोक ४१८, ४२० ।

३ देखो उनकी बनाई हुई पातञ्जलसूत्रवृत्ति ।

४ देखो पातञ्जलयोगलक्षणविचार, ईशानुग्रहविचार, योगावतार, क्लेशहानोपाय और योगमाहात्म्य द्वात्रिंशिका ।

उद्देश्य यही है कि महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता इतनी अधिक थी कि सभी दार्शनिक व साम्प्रदायिक विद्वान् योगशास्त्रके पास आते ही अपना साम्प्रदायिक अभिनिवेश भूल गये और एकरूपताका अनुभव करने लगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि—महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टि-विशालता उनके विशिष्ट योगानुभवका ही फल है, क्योंकि—जब कोई भी मनुष्य शब्दज्ञानकी प्राथमिक भूमिकासे आगे बढ़ता है तब वह शब्दकी पूंछ न खींचकर चिन्ताज्ञान तथा भावनाज्ञानके[1] उत्तरोत्तर अधिकाधिक एकतावाले प्रदेशमें अभेद आनंदका अनुभव करता है।

आचार्य हरिभद्रकी योगमार्गमें नवीन दिशा—श्रीहरिभद्र प्रसिद्ध जैनाचार्योंमें एक हुए। उनकी बहुश्रुतता, सर्वतोमुखी प्रतिभा, मध्यस्थता और समन्वयशक्तिका पूरा परिचय करानेका यहाँ प्रसंग नहीं है। इसकेलिये जिज्ञासु महाशय उनकी कृतियोंको देख लेवें। हरिभद्रसूरिकी शतमुखी प्रतिभाके स्रोत उनके बनाये हुए चार-[2]

---

१ शब्द, चिन्ता तथा भावनाज्ञानका स्वरूप श्रीयशोविजयजीने अध्यात्मोपनिषद्में लिखा है, जो आध्यात्मिक लोगोंको देखने योग्य है अध्यात्मोपनिषद् श्लो. ६५, ७४।

२ द्रव्यानुयोगविषयक—धर्मसंग्रहणी आदि १, गणितानुयोगविषयक—क्षेत्रसमास टीका आदि २, चरणकरणानुयोग-

अनुयोगविषयक ग्रन्थोंमें ही नहीं बल्कि जैन न्याय तथा भारतवर्षीय तत्कालीन समग्र दार्शनिक सिद्धांतोंकी चर्चावाले ग्रन्थोंमें भी वहे हुए हैं। इतना करके ही उनकी प्रतिभा मौन न हुई, उसने योगमार्गमें एक ऐसी दिशा दिखाई जो केवल जैन योगसाहित्यमें ही नहीं बल्कि आर्यजातीय संपूर्ण योग-विषयक साहित्यमें एक नई वस्तु है। जैनशास्त्रमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका प्राचीन वर्णन चौदह गुणस्थान-रूपसे, चार ध्यान रूपसे और बहिरात्म आदि तीन अवस्था-ओंके रूपसे मिलता है। हरिभद्रसूरिने उसी आध्यात्मिक विकासके क्रमका योगरूपसे वर्णन किया है। पर उसमें उन्होंने जो शैली रक्खी है वह अभीतक उपलब्ध योगविषयक साहित्यमेंसे किसी भी ग्रंथमें कमसे कम हमारे देखनेमें तो नहीं आई है। हरिभद्रसूरि अपने ग्रन्थोंमें अनेक[2] योगियोंका नामनिर्देश करते हैं। एवं योगविषयक[3] ग्रन्थोंका उल्लेख करते

विषयक—पञ्चवस्तु, धर्मबिन्दु आदि ३, धर्मकथानुयोगविषयक—समराइच्चकहा आदि ४ ग्रन्थ मुख्य हैं।

१ अनेकान्तजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्त्तासमुच्चय आदि।

२ गोपेन्द्र (योगबिन्दु श्लोक. २००) कालातीत (योगबिन्दु श्लोक ३००)। पतञ्जलि, भदन्तभास्करबन्धु, भगवदन्त(त्त) वादी (योगदृष्टि० श्लोक १६ टीका)।

३ योगनिर्णय आदि (योगदृष्टि० श्लोक १ टीका)।

हैं जो अभी प्राप्त नहीं भी हैं। संभव है उन अप्राप्य ग्रन्थोंमें उनके वर्णनकी सी शैली रही हो, पर हमारे लिये तो यह वर्णनशैली और योग विषयक वस्तु बिल्कुल अपूर्व है। इस समय हरिभद्रसूरिके योगविषयक चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जो हमारे देखनेमें आये हैं। उनमेंसे षोडशक और योग-विंशिकाके योगवर्णनकी शैली और योगवस्तु एक ही है। योगविंदुकी विचारसरणी और वस्तु योगविंशिकासे जुदा है। योगदृष्टिसमुच्चयकी विचारधारा और वस्तु योगविंदुसे भी जुदा है। इस प्रकार देखनेसे यह कहना पडता है कि हरि-भद्रसूरिने एक ही आध्यात्मिक विकासके क्रमका चित्र भिन्न भिन्न ग्रन्थोंमें भिन्न भिन्न वस्तुका उपयोग करके तीन प्रका-रसे खींचा है।

कालकी अपरिमित लंबी नदीमें वासनारूप संसारका गहरा प्रवाह बहता है, जिसका पहला छोर (मूल) तो अनादि है, पर दूसरा (उत्तर) छोर सान्त है। इसलिये मुमुक्षु-ओंके वास्ते सबसे पहले यह प्रश्न बडे महत्त्वका है कि उक्त अनादि प्रवाहमें आध्यात्मिक विकासका आरंभ कबसे होता है? और उस आरंभके समय आत्माके लक्षण कैसे हो जाते हैं? जिनसे कि आरंभिक आध्यात्मिक विकास जाना जा सके। इस प्रश्नका उत्तर आचार्यने योगविंदुमें दिया है। वे कहते हैं कि-" जब आत्माके ऊपर मोहका प्रभाव घटनेका आरंभ होता है, तभीसे आध्यात्मिक विकासका सूत्रपात हो जाता

है। इस सूत्रपातका पूर्ववर्ती समय जो आध्यात्मिकविकास-रहित होता है, वह जैनशास्त्रमें अचरमपुद्गलपरावर्तके नामसे प्रसिद्ध है। और उत्तरवर्ती समय जो आध्यात्मिक विकासके क्रमवाला होता है, वह चरमपुद्गलपरावर्तके नामसे प्रसिद्ध है। अचरमपुद्गलपरावर्तन और चरमपुद्गलपरावर्तनकालके परिमाणके बीच सिंधु और बिंदुका सा अंतर होता है। जिस आत्माका संसारप्रवाह चरमपुद्गलपरावर्त्तपरिमाण शेष रहता है, उसको जैन परिभाषामें 'अपुनर्बंधक' और सांख्य-परिभाषामें 'निवृत्ताधिकार प्रकृति' कहते हैं[२]। अपुनर्बन्धक या निवृत्ताधिकार प्रकृति आत्माका आंतरिक परिचय इतना ही है कि उसके ऊपर मोहका दबाव कम होकर उलटे मोहके ऊपर उस आत्माका दबाव शुरू होता है। यही आध्यात्मिक विकासका बीजारोपण है। यहींसे योगमार्गका आरंभ हो जानेके कारण उस आत्माकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें सरलता, नम्रता, उदारता, परोपकारपरायणता आदि सदाचार वास्तविकरूपमें दिखाई देते हैं। जो उस विकासोन्मुख आत्माका बाह्य परिचय है"। इतना उत्तर देकर आचार्यने योगके आरंभसे लेकर योगकी पराकाष्टा तकके आध्यात्मिक विकासकी क्रमिक वृद्धिको स्पष्ट समझानेके लिये उसको

---

१ देखो मुक्त्यद्वेषद्वात्रिंशिका २८।

२ देखो योगबिंदु १७८, २०१।

पाँच भूमिकाओंमें विभक्त करके हर[1] एक भूमिकाके लक्षण बहुत स्पष्ट दिखाये हैं। और जगह जगह जैन परिभाषाके साथ बौद्ध तथा योगदर्शनकी परिभाषाका मिलान करके परिभाषाभेदकी दिवारको तोडकर उसकी ओटमें छिपी हुई योगवस्तुकी भिन्नभिन्नदर्शनसम्मत एकरूपताका स्फुट प्रदर्शन कराया है। अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय ये योगमार्गकी पाँच भूमिकायें हैं। इनमेंसे पहली चारको पतंजलि संप्रज्ञात, और अन्तिम भूमिकाको असंप्रज्ञात कहते हैं[3]। यही संक्षेपमें योगबिन्दुकी वस्तु है।

योगदृष्टिसमुच्चयमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका वर्णन योगबिन्दुकी अपेक्षा दूसरे ढंगसे है। उसमें आध्यात्मिक विकासके प्रारंभके पहलेकी स्थितिको अर्थात् अचरमपुद्गलपरावर्त्तपरिमाण संसारकालीन आत्माकी स्थितिको ओघदृष्टि कहकर उसके तरतम भावको अनेक दृष्टांत द्वारा समझाया

---

१ योगबिंदु, ३१, ३५७, ३५९, ३६१, ३६३, ३६५।

२ "यत्सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्धन्तैषोऽन्वर्थतोऽपि हि ॥२७३॥
वरबोधिसमेतो वा तीर्थकृद्यो भविष्यति।
तथाभव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः" ॥२७४॥
योगबिन्दु।

३ देखो योगबिंदु ४१८, ४२०।

है,[1] और पीछे आध्यात्मिक विकासके आरंभसे लेकर उसके अंततकमें पाई जानेवाली योगावस्थाको योगदृष्टि कहा है। इस योगावस्थाकी क्रमिक वृद्धिको समझानेके लिये संक्षेपमें उसे आठ भूमिकाओंमें बाँट दिया है। वे आठ भूमिकायें उस ग्रन्थमें आठ योगदृष्टिके नामसे प्रसिद्ध हैं[2]। इन आठ दृष्टिओंका विभाग पातंजलयोगदर्शन-प्रसिद्ध यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि आठ योगांगोंके आधार पर किया गया है, अर्थात् एक एक दृष्टिमें एक एक योगांगका सम्बन्ध मुख्यतया बतलाया है। पहली चार दृष्टिआँ योगकी प्रारम्भिक अवस्थारूप होनेसे उनमें अविद्याका अल्प अंश रहता है। जिसको प्रस्तुत ग्रंथमें अवेद्यसंवेद्यपद कहा है[3]। अगली चार दृष्टिओंमें अविद्याका अंश बिल्कुल नहीं रहता। इस भावको आचार्यने वेद्यसंवेद्यपद शब्दसे जनाया है। इसके सिवाय प्रस्तुत ग्रंथमें पिछली चार दृष्टियोंके समय पाये जानेवाले विशिष्ट आध्यात्मिक विकासको इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग ऐसी तीन योगभूमिकाओंमें विभाजित करके उक्त तीनों योगभूमिकाओंका बहुत रोचक वर्णन किया है[5]।

१ देखो—योगदृष्टिसमुच्चय १४।
२ „ „ १३।
३ „ „ ७५।
४ „ „ ७३।
५ „ „ २–१२।

आचार्यने अन्तमें चार प्रकारके योगियोंका वर्णनकरके योगशास्त्रके अधिकारी कौन हो सकते हैं ? यह भी बतला दिया है। यही योगदृष्टिसमुच्चयकी बहुत संक्षिप्त वस्तु है।

योगविंशिकामें आध्यात्मिक विकासकी प्रारंभिक अवस्थाका वर्णन नहीं है, किन्तु उसकी पुष्ट अवस्थाओंका ही वर्णन है।

इसीसे उसमें मुख्यतया योगके अधिकारी त्यागी ही माने गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थमें त्यागी गृहस्थ और साधुकी आवश्यक–क्रियाको ही योगरूप बतलाकर उसके द्वारा आध्यात्मिक विकासकी क्रमिक वृद्धिका वर्णन किया है। और उस आवश्यक–क्रियाके द्वारा योगको पाँच भूमिओंमें विभाजित किया है। ये पाँच भूमिकायें उसमें स्थान, शब्द, अर्थ, सालंबन और निरालंबन नामसे प्रसिद्ध हैं। इन पाँच भूमिकाओंमें कर्मयोग और ज्ञानयोगकी घटना करते हुए आचार्यने पहली दो भूमिकाओंको कर्मयोग और पिछली तीन भूमिकाओंको ज्ञानयोग कहा है। इसके सिवाय प्रत्येक भूमिकामें इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धिरूपसे आध्यात्मिक विकासके तरतम भावका प्रदर्शन कराया है। और उस प्रत्येक भूमिका तथा इच्छा, प्रवृत्ति आदि अवान्तर स्थितिका लक्षण बहुत स्पष्टतया वर्णन किया है[1]। इस प्रकार उक्त

---

1 योगविंशिका गा० ५, ६।

पाँच भूमिकाओंकी अन्तर्गत भिन्न भिन्न स्थितिओंका वर्णन-करके योगके अस्सी भेद किये हैं, और उन सबके लक्षण बतलाये हैं, जिनको ध्यानपूर्वक देखनेवाला यह जान सकता है कि मैं विकासकी किस सीढ़ीपर खडा हूँ। यही योगविंशिकाकी संक्षिप्त वस्तु है।

उपसंहार—विषयकी गहराई और अपनी अपूर्णताका खयाल होते हुए भी यह प्रयास इस लिये किया गया है कि अबतकका अवलोकन और स्मरण संक्षेपमें भी लिपिबद्ध हो जाय, जिससे भविष्यत्में विशेष प्रगति करना हो तो इस विषयका प्रथम सोपान तयार रहे। इस प्रवृत्तिमें कई मित्र मेरे सहायक हुए हैं जिनके नामोल्लेख मात्रसे मैं कृतज्ञता प्रकाशित करना नहीं चाहता। उनकी आदरणीय स्मृति मेरे हृदयमें अखंड रहेगी।

पाठकोंके प्रति एक मेरी सूचना है। वह यह कि इस निबंधमें अनेक शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द आये हैं। खासकर अन्तिम भागमें जैन–पारिभाषिक शब्द अधिक हैं, जो बहुतोंको कम विदित होंगे उनका मैंने विशेष खुलासा नहीं किया है, पर खुलासावाले उस उस ग्रन्थके उपयोगी स्थलोंका निर्देश कर दिया है, जिससे विशेषजिज्ञासु मूल-ग्रन्थद्वारा ही ऐसे कठिन शब्दोंका सुलासा कर सकेंगे।

अगर यह संक्षिप्त निबंध न होकर खास पुस्तक होती तो इसमें विशेष खुलासोंका भी अवकाश रहता।

इस प्रवृत्तिके लिये मुझको उत्साहित करनेवाले गुजरात पुरातत्त्व संशोधन मंदिरके मंत्री परीख रसिकलाल छोटालाल हैं जिनके विद्याप्रेमको मैं नहीं भूल सकता।

संवत् १९७८ पौष वदि ५ भावनगर.

लेखक—
सुखलाल संघवी.

॥ अर्हम् ॥

न्यायाम्भोनिधि—श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः

श्रीमद्—व्यासर्षिप्रणीतभाष्यांशसहितं

भगवत्पतञ्जलिमुनिविरचितं

पातञ्जलयोगदर्शनम् ।

(न्यायविशारद—न्यायाचार्य—श्रीमद्यशोविजयवाचकवरविहितया

जैनमतानुसारिण्या लेशव्याख्ययोपवर्धितम्)

ऐँ नमः ॥ ऐन्द्रवृन्दनतं नत्वा वीरं सूत्रानुसारतः ।

वक्ष्ये पातञ्जलस्यार्थं साक्षेपं प्रक्रियाश्रयम् ॥ १ ॥

अथ योगानुशासनम् ॥१—१॥

तस्य (संप्रज्ञातासंप्रज्ञातरूपद्विविधयोगस्य) लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १—२ ॥

भाष्यम्—सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते । चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम् ।

प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव तमसानुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति । तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं[1] भवति । तत् परं प्रसङ्ख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः । चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च; सत्त्वगुणात्मिका [2]चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिः इत्यतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि । तदवस्थं संस्कारोपगं भवति । स निर्बीजः समाधिः । न तत्र किञ्चित् संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः ।

(य०) सर्वशब्दाग्रहणेऽप्यर्थात्तल्लाभादव्याप्तिः संप्रज्ञात इति " क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधो योगः " इति लक्षणं सम्यग्, यद्वा " समितिगुप्तिसाधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम् " इति त्वस्माकमाचार्याः । तदुक्तम्—" मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो " [योगविंशिका॰ गा॰ १]

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ १—३ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ १—४ ॥

---

१ सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं चित्तं धर्ममेघपर्यन्तं ।
२ विवेकख्यातेः बोधकमेतत्पदम् ॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ १–५ ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ १–६ ॥

तत्र[1] प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ १–७ ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ १–८ ॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ १–९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १–१० ॥

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ १–११ ॥

भाष्यम्—किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्विद्विषयस्य ? इति । ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासः तथाजातीयकं संस्कारमारभते । स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनः तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः, ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः । सा च द्वयी—भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च । स्वप्ने भावितस्मर्तव्या । जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति । सर्वाः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्प्रभवन्ति । सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः, सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः । दुःखानुशयी द्वेषः । मोहः

---

१ एतत्पदं मुद्रितपुस्तके न दृश्यते

पुनरविद्येति। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः । आसां निरोधे सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति ।

(य०) अत्र विकल्पः शब्दाज्ञाऽखण्डालीकनिर्भासोऽसत्ख्यात्यसिद्धेः, किन्तु "असतो णत्थि णिसेहो" इत्यादि भाष्यकृद्वचनात्खण्डशःप्रसिद्धपदार्थानां संसर्गारोप एव, अभिन्ने भेदनिर्भासादिस्तु नयात्मा प्रमाणैकदेश एव । निद्रा तु सर्वा नाऽभावालम्बना, स्वप्ने करितुरगादिभावानामपि प्रतिभासनात् । नापि सर्वा मिथ्यैव, संवादिस्वप्नस्यापि बहुशो दर्शनात् । स्मृतिरप्यनुभूते यथार्थतत्ताख्यधर्मावगाहिनी, संवादविसंवादाभ्यां द्वैविध्यदर्शनाद्, इति तिसृणामुत्तरवृत्तीनां द्वयोरेव यथायथमन्तर्भावात् पञ्चवृत्त्यभिधानं स्वरुचितप्रपञ्चार्थम् । अन्यथा क्षयोपशमभेदादसङ्ख्यभेदानामपि संभवात्, इत्यार्हतसिद्धान्तपरमार्थवेदिनः ।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १–१२ ॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १–१३ ॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १–१४ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १–१५ ॥

---

१ विशेषावश्यकभाष्यगा. १५७९

तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १–१६ ॥

भाष्यम्—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषः दर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्द्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। तस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते—प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव परा काष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।

(य०) विषयदोषदर्शनजनितमापातधर्मसन्यासलक्षणं प्रथमम्, सतत्त्वचिन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीयापूर्वकरणभावि तात्त्विकधर्मसन्यासलक्षणं द्वितीयं वैराग्यम्, यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्पद्यन्ते इत्यस्माकं सिद्धान्तः॥

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमा-
त्संप्रज्ञातः ॥ १–१७ ॥

अथासंप्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वा इति.

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। १-१८।

भाष्यम्—सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य

---

१ 'पुरुषदर्शनाभ्या' इत्यपि।

समाधिरसंप्रज्ञातः। तस्य परं वैराग्यमुपायः । सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते, स चार्थशून्यः। तदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः॥

(य०) द्विविधोऽप्ययं अध्यात्मभावनाध्यानसमतावृत्तिक्षयभेदेन पञ्चधोक्तस्य योगस्य पञ्चमभेदेऽवतरति। वृत्तिक्षयो ह्यात्मनः कर्मसंयोगयोग्यतापगमः, स्थूलसूक्ष्मा ह्यात्मनश्चेष्टा वृत्तयः, तासां मूलहेतुः कर्मसंयोगयोग्यता, सा चाकरणनियमेन ग्रन्थिभेदे उत्कृष्टमोहनीयबन्धव्यवच्छेदेन तत्तद्गुणस्थाने तत्तत्प्रकृत्यात्यन्तिकबन्धव्यवच्छेदस्य हेतुना क्रमशो निवर्तते। तत्र पृथक्त्ववितर्कसविचारैकत्ववितर्काविचाराख्यशुक्लध्यानभेदद्वये संप्रज्ञातः समाधिर्वृत्त्यर्थानां सम्यग्ज्ञानात्। तदुक्तम्—"समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिधीयते। सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥ १ ॥" (४१८ यो. बिं.) निर्वितर्कविचारानन्दास्मितानिर्भासस्तु पर्यायविनिर्मुक्तशुद्धद्रव्यध्यानाभिप्रायेण व्याख्येय(यः),यन्नयमालम्ब्योक्तम्—"का अरई के आणंदे ? इत्थं पि अग्गहे चरे" इत्यादि। क्षपकश्रेणिपरिसमाप्तौ केवलज्ञानलाभस्त्वसंप्रज्ञातः समाधिः, भावमनोवृत्तीनां ग्राह्यग्रहणाकारशालिनीनामवग्रहादिक्रमेण तत्र सम्यक्परिज्ञानाभावात्। अत एव भावमनसा संज्ञाऽभावाद् द्रव्यमनसा

---

१ आचाराङ्ग १–३–३ पृ. १६८/१ का अरतिः क आनन्दः? अत्रापि अग्रहश्चरेत्।

च तत्सद्भावात्केवली नोसंज्ञीत्युच्यते । तदिदमुक्तं योगबिन्दौ– " असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः । निरुद्धाशेषवृत्त्यादि-तत्स्वरूपानुवेधतः ॥१॥ धर्ममेघोऽमृतात्मा च भवशत्रुः शिवोदयः। सत्त्वानन्दः परश्चेति योज्योऽत्रैवार्थयोगतः ॥२॥ " (४२०-२१) इत्यादि । संस्कारशेषत्वं चात्र भवोपग्राहिकर्मांशरूपसंस्कारापेक्षया व्याख्येयम्, मतिज्ञानभेदस्य संस्कारस्य तदा मूलत एव विनाशात् । इत्यस्मन्मतनिष्कर्ष इति दिक् । प्रकृतं प्रस्तूयते—

स खल्वयं द्विविधः, उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च । तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति ॥

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १–१९ ॥

भाष्यम्–विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः । ते हि स्वसंस्कारमात्रो[1]पगतेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति । तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥

(य०) उपशान्तमोहत्वेनोक्तानां लवसप्तमानां ज्ञानयोगरूपसमाधिमधिकृत्येदं प्रवृत्तम् । एत[दस्म]न्मतम् ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ १–२० ॥

---

१ ' मात्रोपयोगेन ' इत्यपि.

तत्राधिमात्रोपायानाम्—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ १—२१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ १—२२ ॥

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ १—२३ ॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १—२४ ॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ १—२५ ॥

स एषः—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १—२६ ॥

भाष्यम्—पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः । यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥

(य०)—अत्र वयं वदामः—कालेनानवच्छेदादिकं नेश्वरस्योपास्यतावच्छेदकम् । सार्वज्ञ्यं तु तथासंभवदपि दोषत्रयजन्यतावच्छेदकत्वेन नित्यमुक्तेश्वरसिद्धौ साक्षिभावमालम्बते । 'नित्यमुक्त ईश्वरः' इत्यभिधाने च व्यक्त एव वदतोव्याघातः, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वाद्बन्धपूर्वस्यैव मोक्षस्य व्यवस्थितेः, अन्यथा घटादेरपि नित्यमुक्तत्वं

दुर्निवारम्। केवलसत्त्वातिशयवतः पुरुषविशेषस्य कल्पने च केवलरजस्तमोऽतिशयवतोरपि कल्पनापत्तिः। कथं चैवमात्मत्वावच्छेदेनानादिसंसारसंबन्धनिमित्ततोपपत्तिः ? । ईश्वरातिरिक्तात्मत्वेन तथात्वकल्पने च गौरवम्। केवलसत्त्वोत्कर्षवदृष्टपुरुषकल्पने च नित्यज्ञानाद्याश्रयो नैयायिकाद्यभिमत एव स किं न कल्प्यते ?, तस्मात्सकलकर्मनिर्मुक्ते सिद्ध एव भवतीश्वरत्वं युक्तम्, उपासनौपयिककेवलज्ञानादिगुणानां तत्रैव संभवात्। अनादिशुद्धत्वश्रद्धापि प्रवाहापेक्षया तत्रैव पूरणीया। यदाहुः श्रीहरिभद्राचार्याः—"एसो अणाइमं चिय सुद्धो य तओ अणाइसुद्धो त्ति। जुत्तो य पवाहेणं ण अन्नहा सुद्धया सम्मं ॥ १ ॥" (अनादिविंशिका. १२) सिद्धानामनेकत्वात् " एक ईश्वरः " इति श्रद्धा न पूर्येत इति चेत्, न, सिद्धेतरवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोग्यतिशयत्वरूपस्यैकत्वस्य सिद्धानामनेकत्वेऽप्यबाधात्सङ्ख्यारूपस्यैकत्वस्य चाप्रयोजकत्वात्। गम्यतां वा समष्ट्यपेक्षया तदपि, स्वरूपास्तित्वसादृश्यास्तित्वयोरविनिर्भागवृत्तित्वस्य सार्वत्रिकत्वात्। जगत्कर्तुः सर्वथैकस्य पुरुषस्याभ्युपगमे च जगत्कारणस्य शरीरस्यापि बलादापत्तिः, कार्यत्वे सकर्तृकत्वस्येव शरीरजन्यत्वस्यापि व्याप्तेरभिधातुं शक्यत्वादिति। तस्य च सिद्धस्य भगवत ईश्वरस्यानुग्रहोऽपि योगिनोऽपुनर्बन्धकाद्यवस्थोचितसदाचारलाभ एव, न त्वनुजिघृक्षारूपस्तस्या रागरूपत्वात्, तस्य च द्वेषसहचरितत्वात्, रागद्वेषवतश्चेतरवदनाराध्यत्वादिति संक्षेपः ॥ प्रकृतम्—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १—२७ ॥

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १—२८ ॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।१-२९॥

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-
दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त-
विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ १—३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप-
सहभुवः ॥ १—३१ ॥

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ १—३२ ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ १—३३ ॥

भाष्यम्—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भाव-
येत् । दुःखितेषु करुणां, पुण्यात्मकेषु मुदितां, अपुण्यशीले-
षूपेक्षाम् ।

(य०)—अस्मदाचार्यास्तु—"परहितचिन्ता मैत्री परदुःखविना-
शिनी तथा करुणा । परसुखतुष्टिर्मुदिता परदोषोपेक्षणमुपेक्षा
॥ १ ॥" इति लक्षयित्वा "उपकारिस्वजनेतरसामान्यगता

चतुर्विधा मैत्री । मोहासुखसंवेगाऽन्यहितयुता चैव करुणा तु ॥ २ ॥ सुखमात्रे सद्धेतावनुबन्धयुते परे च मुदिता तु । करुणा तु बन्धनिर्वेदतत्त्वसारा ह्युपेक्षेति ॥ ३ ॥" इति भेदप्रदर्शनपूर्वं "एताः खल्वभ्यासात् क्रमेण वचनानुसारिणां पुंसाम् । सद्वृत्तानां सततं श्राद्धानां परिणमन्त्युच्चैः ॥ ४ ॥" इति परिकर्मविधिमाहुः । तत्त्वमत्रत्यमस्मत्कृतषोडशकटीकायाम् । प्रकृतम्—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ १–३४ ॥

भाष्यम्—कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामः, ताभ्यां मनसः स्थितिं संपादयेत् ॥

(य०)–अनैकान्तिकमेतत्, प्रसह्य ताभ्यां मनो व्याकुलीभावात् " ऊसासं ण णिरुंभइ " (आवश्यकनिर्युक्ति १५१०) इत्यादि पारमर्षेण तन्निषेधाच्च, इति वयम् ॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ १–३५ ॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ १–३६ ॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ १–३७ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ १–३८ ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ १–३९ ॥

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥१–४०॥

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ १–४१ ॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ १–४२ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ १–४३ ॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ १–४४ ॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ १–४५ ॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥ १–४६ ॥

भाष्यम्—ताः चतस्रः समापत्तयो वहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः। तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचारः स चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥

(य०)—पर्यायोपरक्तानुपरक्तस्थूलसूक्ष्मद्रव्यभावनारूपाणामेतासां शुक्लध्यानजीवानुभूतानां चित्तैकाग्र्यकारिणीनामुपशान्त-

मोहापेक्षया सबीजत्वम्, क्षीणमोहापेक्षया तु निर्बीजत्वमपि स्यात् इति त्वार्हतसिद्धान्तरहस्यम् ॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ १–४७ ॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ १–४८ ॥

सा पुनः—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ १–४९ ॥

भाष्यम्—श्रुतमागमविज्ञानं तत् सामान्यविषयं, नह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम्, कस्मात्? न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति। तथाऽनुमानं सामान्यविषयमेव, यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिः, यत्राप्राप्तिस्तत्र न भवति गतिरित्युक्तम् अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः। तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्ति इति। न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणम्, न चास्य विशेषस्याप्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा। तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥

(य०)—"संध्येव[1] दिनरात्रिभ्यां केवलाच्च[2] श्रुतात्पृथग्। बुधैरनुभवो दृष्टः केवलार्कारुणोदयः ॥१॥" इत्यस्मदुक्तलक्षणलक्षिता-

---

१ ज्ञानसार अष्टक २६ श्लो. १। २ "केवलश्रुतयोः" इत्यपि.

नुभवापरनामधेया शास्त्रोक्तायां दिशि, तदतिक्रान्तमतीन्द्रियं विशेषमवलम्बमाना तत्त्वतो द्वितीयापूर्वकरणभाविसामर्थ्ययोग-प्रभवेयं समाधिप्रज्ञा, इति शुक्तः पन्थाः। प्रकृतम्—

समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ १–५० ॥

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥१-५१॥

॥ इति पातञ्जले साङ्ख्यप्रवचने योगशास्त्रे
समाधिपादः प्रथमः ॥

उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यात्? इत्येतदारभ्यते—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥२-१॥

भाष्यम्—नातपस्विनो योगः सिध्यति, अनादिकर्मक्लेश-वासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनम-बाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते। स्वाध्यायः प्रणवादिपवि-त्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। ईश्वरप्रणिधानं सर्व-क्रियाणां परमगुरौ अर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।

---

२ शास्त्रातिक्रान्तम्।

(य०)—"बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।" इत्यस्मदीयाः ॥ सर्वत्रानुष्ठाने मुख्यप्रवर्तकशास्त्रस्मृतिद्वारा तदादिप्रवर्तकपरमगुरोर्हृदये निधानमीश्वरप्रणिधानम् । तदुक्तम्—" अस्मिन् हृदयस्थे सति हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति । हृदयस्थिते च तस्मिन् नियमात्सर्वार्थसंसिद्धिः ॥ १ ॥" इत्यादि, इत्यस्मन्मतम् ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २—२ ॥

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥२—३॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २—४ ॥

भाष्यम्—अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विकल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् । तत्र का प्रसुप्तिः ? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः, तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः, प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति । अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते । तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था, नान्यत्रेति । सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोधः इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च । तनुत्वमुच्यते—प्रतिपक्षभावनो-

पहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। कथं? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्। न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति। रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति अन्यासु स्त्रीषु विरक्तः, किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिः, अन्यत्र भविष्यद्वृत्तिरिति स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति। विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः, सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेशः? इति, उच्यते—सत्यमेवैतत्, किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वं, यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जनेनाभिव्यक्त इति सर्व एवैते क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात्? सर्वेषु अविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशाः, विपर्यासप्रत्ययकाले उपलभ्यन्ते, क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति॥

(य०)—अत्राविद्यादयो मोहनीयकर्मण औदयिकभावविशेषाः। तेषां प्रसुप्तत्वं तज्जनककर्मणोऽबाधाकालापरिक्षयेण कर्मनिषेकाभावः। तनुत्वमुपशमः क्षयोपशमो वा। विच्छिन्नत्वं प्रतिपक्षप्रकृत्युदयादिनाऽन्तरितत्वम्। उदारत्वं चोदयावलिकाप्राप्तत्वम्, इत्यवसेयम्॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥ २–५॥

भाष्यम्-अनित्यकार्ये नित्यख्यातिः, तद्यथा-ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकसः इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये-" स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥ १ ॥" इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते। नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति, कस्य केनाभिसंबन्धः? भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययः, तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः। तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति, " परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" [२. १५.] इति, तत्र सुखख्यातिरविद्या। तथाऽनात्मन्यात्मख्यातिः–बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनसि अनात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैतदन्यत्रोक्तम्-" व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनु नन्दत्यात्मसंपदं मन्वानः, तस्य चापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः" इति। एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति। तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्। यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किंतु तद्विरुद्धः

सपत्नः। यथा वाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्। एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥ २–६॥

भाष्यम्–पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते। स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति, कुतो भोगः? इति। तथा चोक्तम्–"बुद्धितः परमपुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेनेति"॥

सुखानुशयी रागः॥ २–७॥

भाष्यम्–सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्द्धस्तृष्णा लोभः स राग इति॥

दुःखानुशयी द्वेषः॥ २–८॥

भाष्यम्–दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥२–९॥

भाष्यम्—सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, "मा न भूवं, भूयासम्" इति। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः। एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चाय-

मभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति। यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः, कस्मात्? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥

(य०)—अत्राविद्या स्थानाङ्गोक्तं[1] दशविधं मिथ्यात्वमेव। [2]अस्मिताया अदृश्ये (अ दृश्ये)दृगारोपरूपत्वे चान्तर्भावः(?)। बौद्धदृश्यदृगैक्यापत्तिस्वीकारे तु दृष्टिवाद[3]सृष्टिवादापत्तिः (?)। अहङ्कारममकारबीजरूपत्वे तु रागद्वेषान्तर्भाव इति। रागद्वेषौ कषायभेदा एव। अभिनिवेशश्चोदाहृतोऽर्थतो भयसंज्ञात्मक एव, स च संज्ञान्तरोपलक्षणम्, विदुषोऽपि भय इवाहारादावप्यभिनिवेशदर्शनात्। केवलं विदुषा(षोऽ)प्रमत्ततादशायां दशसंज्ञाविष्कम्भणे न कश्चिद्यमभिनिवेशः। संज्ञा च मोहाभिनिवेशः, संज्ञा च मोहाभिव्यक्तं चैतन्यमिति सर्वेऽपि क्लेशा मोहप्रकृत्युदयजभाव एव, अत एव क्लेशक्षये कैवल्यसिद्धिः, मोहक्षयस्य तद्धेतुत्वात् इति पारमर्षरहस्यम्॥

---

१ स्थानाङ्गसूत्रे १० स्थाने। २ अस्मिताया अपि दृश्ये दृगारोपरूपत्वे दृशि वा दृश्यारोपरूपत्वे मिथ्यात्व एवान्तरभावः। आरोपानङ्गीकारे 'बौद्धदृश्य' इत्यादिना दृष्टिसृष्टिवादापत्तिदोषः। (दृष्टिसृष्टिवादप्रक्रियालेशस्तु अद्वैतसिद्धि पृ०५३३। 'सिद्धान्तलेश' परिच्छेद २ श्लो. ४० आदिषु द्रष्टव्यः)। ३ 'दृष्टिसृष्टिवाद' इति स्यात्।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ २–१० ॥

भाष्यम्–ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥

(य०)–क्षीणमोहसंबन्धियथाख्यातचारित्रहेया इत्यर्थः ॥

स्थितानां तु बीजभावोपगतानां—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ २–११ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥२–१२

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ २–१३ ॥

भाष्यम्–सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति, नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति, नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति। स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति। तत्रेदं विचार्यते–किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्? अथैकं कर्मानेकं जन्माक्षिपतीति?। द्वितीया विचारणा–किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयति? अथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयति? इति। न तावदेकं कर्म एकस्य जन्मनः कारणम्, कस्मात्? अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः सांप्रतिकस्य च फलक्रमानियमात् अनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट इति। न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्, कस्मात्?

अनेकेषु जन्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति। न चानेकं कर्मानेकजन्मकारणम्, कस्मात्? तदनेकं जन्म युगपन्न भवतीति क्रमेण वाच्यम्, तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः। तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्तः एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य सम्मूर्च्छित एकमेव जन्म करोति, तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात्त्रिविपाकोऽभिधीयते। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति। दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्, द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वात्, नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति। क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्मिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततं इत्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति। ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनाः, ताश्चानादिकालीना इति। यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च। तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमः, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। कस्मात्? यो ह्यदृष्टजन्मवेदनी-

---

१ 'कर्मसु' इति.

योऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः, कृतस्याविपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति । तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा–शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य । यत्रेदमुक्तम्–"द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये, पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति । तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते" । प्रधानकर्मण्यावापगमनम्, यत्रेदमुक्तम्–"स्यात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः स प्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम् । कस्मात् ? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति, यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" इति । नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य चिरमवस्थानम्, कथमिति ? अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य । यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येत् आवापं वा गच्छेत् । अभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत् समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति । तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्चित्रा दुर्ज्ञाना चेति । न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति ॥

(य०) अत्रेदं मनाग् मीमांसामहे–"जात्यायुर्भोगा विपाकः" इत्यवधारणमनुपपन्नं, गङ्गामरणमुद्दिश्य कृतेन त्रिसन्ध्यस्तवपाठा-

दिना जनितमदृष्टं गङ्गामरणे विपच्यते इत्यस्यापि शास्त्रार्थत्वादायुष इव मरणस्यापि [1]विपाककल्पातिरेकात् । किं च जन्म–आद्यक्षणसंबन्धरूपमायुःप्रतिलम्भनद्वारा [य] दि पूर्वकर्मविपाकः स्यात् तदोत्तरोत्तरक्षणानामपि तथात्वापत्तिः, आयुषैव तदुपसंग्रहे च जन्मनोऽपि [2]नैवोपसंग्रहो युक्तः, तस्माज्जन्मपदं गतिजात्यादिनामकर्मकृतजीवपर्यायोपलक्षणम् । गत्यादिभोगत्वावच्छिन्ने च गत्यादिनामकर्मप्रकृतीनां पृथक्पृथक्कारणत्वमवश्यमेष्टव्यम्, अन्यथा संकरापत्तेः । आयुरपि मनुष्याद्यायुर्भेदेन जीवनपर्यायलक्षणं चतुर्विधं फलभूतं, तज्जनकमायुष्कर्माऽपि च चतुर्विधमवश्यमभ्युपगमनीयम् । भोगपदेनावशेषकर्मषट्कफलमुपलक्षणीयम्, ज्ञानावरणादिफले ज्ञानावरणीयादीनां पृथक्पृथक्कारणत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् । पूर्वापरभावव्यवस्थितजन्मान्तरीयकर्मप्रचयस्य तादृशोत्तरजन्मफलभोगे हेतुत्वं तु दुर्वचम्, क्वचित्फलक्रमवैपरीत्यस्यापि दर्शनाद् । बुद्धिविशेषविषयत्व[3]ादीनां कर्मप्रचयफलप्रचयावनुगमय्य हेतुहेतुमद्भावाभ्युपगमे तु घटपटादिकार्यप्रचयेऽपि दण्डवेमादीनां तथा [हेतु] हेतुमद्भावापत्तिः । अनन्यगतिकत्वात्कर्मफलभोगस्थल एवेत्थं कल्प्यते नान्यत्रेति चेत्, न, अवगतभगवत्प्रवचनरहस्यस्यानन्यगतिकत्वासिद्धेः । तथाहि–प्रारम्भबद्धमेकमेवायुष्कर्म प्रायणलब्धविपाकमेव जन्म निर्वर्तयति, कर्मान्तराणि च कानि-

---

१–विपाककोटिप्रविष्टत्वात् इति भावः । २ ‘ तथैवोप ’ स्यात् अथवा ‘ तेनैवोप ’ इति स्यात् । ३ ‘ त्वादिना ’ स्यात् ।

न्नितज्जन्मनियतविपाकानि, कानिचिन्नानाजन्मनियतविपाकानि, कानिचिदनियतविपाकानि वा। तत्राद्यैर्नामगोत्रवेदनीयैः संवलितमायुर्भवोपग्राहिताव्यपदेशमश्नुते, यत्रान्ये प्रारब्धसंज्ञां निवेशयन्ति। एकस्मिन्भवे आयुर्द्वयस्य वन्ध उदयश्च प्रतिषिद्ध एवेति न जन्मान्तरसंकरादिप्रसङ्गः। नन्दीश्वरनहुषादीनामप्यायुःसंकराभ्युपगमे जन्मसंकरो दुर्निवारः। प्रायणं विना हि नायुष्कर्मान्तरोद्भवः। शरीरान्तरपरिणामे प्रायणाभ्युपगमे च वक्तव्यं जन्मान्तरमिति। तस्माद्वैक्रियशरीरलाभसदृशोऽयं नैकस्मिन् जन्मन्यायुर्द्वयमाक्षिपतीत्यलं मिथ्यादृष्टिसंघट्टेन। तस्मादेकभविकः कर्माशय इति भवोपग्राहिकर्मापेक्षयैव युक्तम्, नान्यथा, कर्मानुभवनिर्मितानां वासनानामनेकजन्मानुगमाभ्युपगमेऽर्थतः कर्मान्तराणां[1] स्यैव तथोपगमात्। क्रोधादिवासनानामपि मोहनीयकर्मभावस्वरूपत्वात्, अन्यथा जातिव्यक्तिपक्षयोर्वासनाया दुर्निरूपत्वादिति प्रतिपत्तव्यम्। भवोपग्राहिकर्मणोऽप्यायुष्करूपस्यैकभविकत्वे कथं सप्तजन्माविप्रत्वप्रदकर्मविपाकोपपत्तिः? इति चेत्, देवनारकयोरेकमेव भवग्रहणं पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्ययोः सप्ताष्टौ भवग्रहणानि, पृथ्वीकायिकादीनामसंख्येयानि कायस्थितिः इत्यादि सिद्धान्तोक्तक्रमेण तादृशगतिजातिनामकर्मादिसंचयसध्रीचीनतादृशनवायुःपरम्परानुबन्धान्नेयमनुपपत्तिरस्माकम्। भवतु, नैकमेव कर्म प्रारब्धतामश्नुते, किन्तु तत्तत्क्षणवर्तिवह्वल्पसुखदुःखहेतु-

---

१ 'णामेव' इति शुद्धम्।

गुरुलघुकर्मणामनेकेषां प्रायणकालोद्बुद्धवृत्तिकानां प्रारब्धतेत्येकत्र जन्मनि जन्मसप्तकभोगाकर्मस्यापत्तिरेव[1] जन्मकृतस्य तादृशकर्मप्रचयस्य प्रायणसप्तकेन "यं यं चापि स्मरन् भावं"(गीता.अ.८.श्लो. ६.)इत्यादि स्मृत्यनुरोधेन प्रायणसप्तककालोत्पादितदेहान्तरविषयान्तिमप्रत्ययैर्वा क्रमशो लब्धप्रारब्धताकस्य सप्तजन्मविप्रत्वोपपादकत्वाभ्युपगमे [3]गतमैहिकभाविककर्माशयप्रतिज्ञया, एवमनन्तभवविपाकिताया अपि वक्तुं शक्यत्वात् । किञ्च तस्य तज्जन्मभोगप्रदत्वावच्छेदेन प्रारब्धत्वं तदन्यावच्छेदेन च संचितत्वं वाच्यम्, अन्यथा तत्त्वज्ञानिनोऽपि तादृशकर्मवतो देहान्तरोत्पत्त्यापत्तिः, संचितं हि कर्म तत्त्वज्ञाननाश्यं न तु प्रारब्धम् । जन्मान्तरावच्छेदेन च तस्य संचितत्वात्तत्त्वज्ञानेन नाशान्नोक्तप्रसङ्ग इति । एवं च तज्जन्मभोगप्रदत्वावच्छेदेन तज्जन्मप्रारब्धत्वम्, तज्जन्मप्रारब्धत्वावच्छेदेन च तज्जन्मभोगप्रदत्वमिति व्यक्त एवान्योऽन्याश्रयः । तस्मादायुष्कर्मैव प्रारब्धं तदेव च कर्मान्तरोपगृहीतं तत्तद्भवभोगप्रदम् । अत एव जातिनामनिधत्तायुष्कादिभेदोऽपि सिद्धान्तसिद्धः । केवलिनश्चायुरधिककर्मसत्त्वे केवलिसमुद्घातेन तत्समीकरणान्न काऽप्यनुपपत्तिरिति अन्यत्रायुषो नैकभाविकत्वनियमः कर्माशयस्य श्रद्धेयः। प्रायणमेव प्राग्भवकृतकर्मप्रचयोद्बोधकमित्यपि दुःशिक्षिताभिधानम्, पुद्गलजीवभवक्षेत्रवि-

---

१ '० भोग्यकर्मविपाकस्या' इति समीचीनम् । २ '० रेकजन्म' इति शु० । ३ "गतमिहैक–" इति ।

पाकभेदेन कर्मणां नानाविपाकत्वाद्ध्रुवविपाक्यायुष्प्रकृतिविपाकस्य आयणोद्बोध्यत्वेऽपि सर्वत्र तथा वक्तुमशक्यत्वात्। दृश्यते हि निद्रादिविपाकोद्बोधे कालविशेषस्यापि हेतुत्वम्, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, स्वानन्तरकर्मविपाकोद्बोधद्वारा आयणस्याभिमसंततत्युद्बोधकत्वस्वीकारे चातिप्रसङ्गः, नानाभवसंततिद्वारघटनायास्तत्र तत्पूर्वं च वक्तुं शक्यत्वात्। प्रधानत्वमपि कर्मण एकायुष्परिग्रहं विना दुर्वचम्। न ह्येकत्र भवे नानागतियोग्यकर्मोपादानेऽन्ते इदमेव फलवदित्यत्रान्यन्नियामकमस्ति, आयुस्त्वेकत्र भवे एकवारमेव बध्यत इति तदनुसारेणान्ते तादृग्लेश्योपगमात्, " यल्लेश्यो म्रियते तल्लेश्येषूत्पद्यते " इति प्राग्भवबद्धमायुस्तादृशलेश्यया विपाकप्राप्तं प्रधानीभवदन्यकर्माण्युपगृह्णातीति सर्वं [सं] गच्छते। प्रधानकर्मण्यावापगमनादिकमपि "मूलप्रकृत्याभिन्नाः, संक्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः। नन्वात्माऽमूर्तत्वादध्यवसायप्रयोगेण॥" इत्याद्युक्तनीत्या संक्रमविधिपरिज्ञानं विना न कथमप्युपपादयितुं शक्यम्, अन्यथा किं कुत्र संक्रामति? इति विनिगन्तुमशक्यत्वात्। तस्मादत्रार्थेऽस्मत्कृतकर्मप्रकृतिवृत्तिं सम्यगवलोक्य वीतरागसिद्धान्तानुरोधि कर्माशयस्वरूपं व्याख्येयमिति कृतं विस्तरेण॥ प्रकृतं प्रस्तुमः—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥२-१४॥

कथं? तदुपपाद्यते—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च

दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ २–१५ ॥

भाष्यम्—सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः। तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति। तथा चोक्तम्–" नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशयः "–इति। विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्। या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्, या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्। कस्मात्? यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धते रागः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति। तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी [1]विषयाननुव्यवसितो महति दुःखपङ्के मग्न इति। एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति। अथ का तापदुःखता? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते, ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति। स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःख-

---

१ " विषयानुवासितः " इत्यपि।

तोच्यते । का पुनः संस्कारदुःखता ? सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति । एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति । एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति । कस्मात् ? अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति, यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति, नान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम् । इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहङ्कारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते । तदेवमनादिदुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति । गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा गुणाः परस्परानुग्रहपरतन्त्रा भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते । चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते । सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते । एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति । गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन

इति। तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभववीजमविद्या। तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः। यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्, रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखवहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं हेयं वा न भवितुमर्हति इति, हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः, उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम्। तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते ॥

(य०)--निश्चयनयमतमेतद्, यदुपजीव्याह स्तुतौ[1] महावादी--"[2]भवबीजमनन्तमुज्झितं विमलज्ञानमनन्तमर्जितम्। न च हीनकलोऽसि नाधिकः समतां नाप्यतिवृत्त्य[3] वर्तसे ॥ १ ॥" इति ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥ २—१६ ॥

तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥२—१७॥

दृश्यस्वरूपमुच्यते—

---

१ सिद्धसेनदिवाकरः २ चतुर्थद्वात्रिंशिका श्लो. २९ ॥
३ 'चाप्यनिवृत्त्य' इति मुद्रिते पाठांतरं।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगा-
पवर्गार्थं दृश्यम् ॥ २–१८ ॥

दृश्यानां तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि
गुणपर्वाणि ॥२–१९॥

भाष्यम्—तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थमित्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः, गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः। षडविशेषाः, तद्यथा—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः, षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति। प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतीयन्ति। एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामो निस्सत्तासत्तं चालिङ्गपरिणाम इति। अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुर्नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषा-

र्थता कारणं भवतीति नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याऽऽख्यायते। त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति। सर्वार्थो हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्यानित्याख्यायते। गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते, व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायधर्मका इव प्रतिभासन्ते। यथा देवदत्तो दरिद्राति, कस्मात्? यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणं न स्वरूपहानादिति समः समाधिः। लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं तत्र तत्संसृष्टं विविच्यत्ते क्रमानतिवृत्तेः। तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते परिणामक्रमानियमात्। तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते। तथा चोक्तं पुरस्ताद्—" न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्ति "—इति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः। तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यास्यन्ते॥

(य०) प्रागभावप्रध्वंसाभावानभ्युपगमे सर्वमेतदुक्तमनुपपन्नम्। तदुक्तमकलङ्केन—" कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे। प्रध्वंसस्यापलापे तु तदेवानन्ततां व्रजेत्॥ ' ॥ " तदुपगमे तु द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वाद्वस्तुनः सर्वत्र त्रैलक्षण्येन कथंचिदेषा व्यवस्था युज्येतापीति वयं वदामः॥

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥२—२०॥

---

१ ' स चार्थो ' इत्यपि।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २—२१ ॥

कस्मात्—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारण-
त्वात् ॥ २—२२ ॥

संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः
संयोगः ॥ २—२३ ॥

यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २—२४ ॥

हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्, अतः परं हानं वक्तव्यम्—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः
कैवल्यम् ॥ २—२५ ॥

अथ हानस्य कः प्राप्त्युपायः ? इति—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २—२६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २—२७ ॥

सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपायः । न च सिद्धि-रन्तरेण साधनम् इत्येतदारभ्यते—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेक-
ख्यातेः ॥ २—२८ ॥

तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २—२९ ॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥२—३०॥

ते तु—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा
महाव्रतम् ॥ २—३१ ॥

भाष्यम्—तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यबन्धकस्य मत्स्ये-ष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां पुण्येऽहनि हनिष्यामीति। सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे हनिष्या-मीति। यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति। एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव प्रति-पालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविहितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते ॥

१ "वाविदित—" इति।

(य०)–सर्वशब्दगर्भप्रतिज्ञया महाव्रतानि, देशशब्दगर्भप्रतिज्ञया चाणुव्रतानीति पुनः पारमर्षविवेकः। एकवचनं चात्र सर्वप्रतिज्ञया पञ्चानामपि तुल्यत्वाभिव्यक्त्यर्थम् ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २–३२ ॥

भाष्यम्–तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्।

(य०)–भावशौचानुपरोध्येव द्रव्यशौचं बाह्यमादेयमिति तत्त्वदर्शिनः ॥

एतेषां यमनियमानाम्—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ २–३३ ॥

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥२–३४॥

प्रतिपक्षभावनाद्धेतोर्हेया वितर्का यदा स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति, तद्यथा—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥२–३५॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २–३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ २–३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ २–३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ २–३९ ॥

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ २–४० ॥

किञ्च—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन-
योग्यत्वानि च ॥ २–४१ ॥

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ २–४२ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ २–४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ २–४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ २–४५ ॥

उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः । आसनादीनि वक्ष्यामः । तत्र—

स्थिरसुखमासनम् ॥ २–४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ २–४७ ॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ २–४८ ॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ २—४९ ॥

स तु—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ २—५० ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ २—५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥२—५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ २—५३ ॥

अथ कः प्रत्याहारः ?—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ २—५४ ॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ २—५५ ॥

भाष्यम्—शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित् । सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति । अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या । शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये । रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित् । चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः । ततश्च परमा त्वियं वश्यता

यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि, नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्न-कृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥

(य०)—व्युत्थानध्यानदशासाधारणं वस्तुस्वभावभावनया स्वविषयप्रतिपत्तिप्रयुक्तरागद्वेषरूपफलानुपधानमेवेन्द्रियाणां परमो जयः इति तु वयम् । तथोक्तं शीतोष्णीयाध्ययने (आचाराङ्ग. अध्ययन ३ उद्दे० १.)—" जस्सिमे सद्दा य रूपा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं " इत्यादि । अत्र "अभिसमन्वागता" इत्यस्य अभीत्याभिमुख्येन मनःपरिणामपरतन्त्रा इन्द्रियविषयादृत्युपयो-गलक्षणेन (?) समिति सम्यक्स्वरूपेण नैते इष्टा अनिष्टा वेति निर्धारणया अनु पश्चादागताः परिच्छिन्ना यथार्थस्वभावेन यस्ये-त्यर्थः, स आत्मवानित्यादि परस्परमिन्द्रियजयस्य फलार्थवादः । अन्यत्राप्युक्तम्—" ण सका रूवमदट्ठुं चक्खू विसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १ ॥ " इत्यादि । चित्तनिरोधादतिरिक्तप्रयत्नानपेक्षत्वं तु परमेन्द्रियजये ज्ञानैकसाध्ये प्रयत्नमात्रानपेक्षत्वादेव निरूप्यते, तथा च स्तुतिकारैः[1]—" संय-तानि तवा(न चा)क्षाणि न चोच्छृङ्खलितानि च । इति सम्यक्प्रति-पदा(द्य)[त्व]येन्द्रियजयः कृतः ॥१॥" इति । न च प्राणायामा-दिहठयोगाभ्यासश्चित्तनिरोधे परमेन्द्रियजये च निश्चित उपायोऽपि,

---

१ सिद्धसेनदिवाकरः ।

" ऊसासं ण णिरुंभइ " [आव० नि० १५१०] इत्याद्यागमेन योगसमाधानविघ्नत्वेन बहुलं तस्य निषिद्धत्वात् । तस्मादध्यात्म-भावनोपबृंहितसमतापरिणामप्रवाही ज्ञानाख्यो राजयोग एव चित्ते-न्द्रिय[जय]स्य परमेन्द्रियजयस्य चोपाय इति युक्तम् ॥

॥ इति पातञ्जले साङ्ख्यप्रवचने योगशास्त्रे साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः ॥

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ३–१ ॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ३–२ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३–३ ॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ३–४ ॥

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ३–५ ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ३–६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ३–७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ३–८ ॥

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः ?—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ३–९ ॥

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ ३–१० ॥

सर्वार्थैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ३–११ ॥

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ॥ ३–१२ ॥

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ ३–१३ ॥

तत्र—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥३–१४॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ ३–१५ ॥

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥३–१६॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ ३–१७ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ ३–१८॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ ३–१९ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥३–२०॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशा-
सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ ३–२१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त-
ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ ३–२२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ ३–२३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ ३–२४ ॥

प्रवृत्त्या लोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थ-
ज्ञानम् ॥ ३–२५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ ३–२६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ ३–२७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ ३–२८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ ३–२९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३–३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३–३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३–३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३–३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३—३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो
भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३—३५॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता
जायन्ते ॥ ३—३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३—३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य
परशरीरप्रवेशः ॥ ३—३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग
उत्क्रान्तिश्च ॥ ३—३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ३—४० ॥

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥३-४१॥

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चा-
काशगमनम् ॥ ३—४२ ॥

बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशा-
वरणक्षयः ॥ ३—४३ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूत-
जयः ॥ ३–४४ ॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मा-
नभिघातश्च ॥ ३–४५ ॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि काय-
संपत् ॥ ३–४६ ॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रिय-
जयः ॥ ३–४७ ॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान-
जयश्च ॥ ३–४८ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं
सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ३–४९ ॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥३–५०॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-
प्रसङ्गात् ॥ ३–५१ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥३–५२॥

तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ३–५३ ॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ३–५४ ॥

प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥३–५५॥

भाष्यम्—यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति । पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः । एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवति ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिनः इतरस्य वा । न हि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति । सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम् । परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते, तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः, क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः । चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणाः न पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते । तत् पुरुषस्य कैवल्यं, तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवतीति ॥

(य०)—अत्रेदं चिन्त्यम्—ऐश्वर्यं लब्धिरूपं न समाधिरूपसंयमजन्यं, वैचित्र्यप्रतियोगिनस्तस्य विचित्रक्षयोपशमादिजन्यत्वात् । एकत्र त्रयरूपस्य च संयमस्य चित्तस्थैर्ये एवोपयोगो

बाहुल्येन, आत्मद्रव्यगुणपर्यायगुणस्य [रूपस्य] च तस्य शुक्लध्या-नशरीरघटकतया कैवल्यहेतुत्वमपि। ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेक-जज्ञानवतस्तदभाववतो[वा] "सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्" इत्यप्ययुक्तम् , विवेकजं केवलज्ञानमन्तरेणोक्तशुद्धिसाम्यस्यैवानु-पपत्तेः। "दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा नास्ति" इत्युक्ते-र्निर्युक्तिकत्वादात्मदर्शनप्रतिबन्धकस्यैव कर्मणः केवलज्ञानप्रतिब-न्धकत्वेन तदपगमे तदुत्पत्तेरवर्जनीयत्वान्निष्प्रयोजनस्यापि फल-रूपस्य तस्य स(स्व)स्वसामग्रीसिद्धत्वात्। न हि प्रयोजनक्षतिभिया सामग्रीकार्यं नार्जयतीति। तदिदमुक्तम्—"क्लेशपक्षिर्मतिज्ञानान्न किञ्चिदपि केवलात्। तमःप्रचयनिःशेषविशुद्धिप्रभवं हि तत् ॥ १ ॥" इति गुणविशेषजन्यत्वेऽप्यात्मदर्शनवन्मुक्तौ तस्याव्यभि-चारित्वं तुल्यम्। वस्तुतो ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वं स्वभावः, छद्म-स्थस्य च विचित्रज्ञानावरणेन स प्रतिबध्यत इति। निःशेषप्रति-बन्धकापगमे ज्ञाने सर्वविषयकत्वमावश्यकम्। तदुक्तं—"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यात् असति प्रतिबन्धरि। दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात् कथम-प्रतिबन्धकः" ॥ (योगबिन्दु. ४३१.) इति। एतेन विवेकजं सर्वविषयकं ज्ञानमुत्पन्नमपि सत्त्वगुणत्वेन निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ प्रविलीयमानं नात्मानमभिस्पृशतीत्यात्मार्थशून्यनिर्विकल्प-चिद्रूप एव मुक्तौ व्यवतिष्ठत इत्यप्यपास्तम्। चित्त्वावच्छेदेनैकस-र्वविषयकत्वस्वभावकल्पनाद्, अर्थशून्यायां चिति मानाभावाद्, बिम्बरूपस्य चित्सामान्यस्याविवर्तस्य कल्पनेऽचित्सामान्यस्यापि

सादृशस्य कल्पनापत्तेः व्यवहारस्य बुद्धिविशेषधर्मैरेवोपपत्तेः, यदि चाचित्सामान्यनिष्ठ एवाचिद्विवर्तः कल्प्यते तदा तुल्यन्याया-च्चिद्विवर्तोऽपि चित्सामान्यनिष्ठ एवाभ्युपगन्तुं युक्तो न तु चिदचि-द्विवर्ताधिष्ठानमेव कल्पयितुं युक्तं, नयादेशस्य सर्वत्र द्रव्ये तुल्यप्र-सरत्वात्। कौटस्थ्यं त्वात्मनो यच्छ्रुतिसिद्धं तदितरावृत्ति-स्वाभाविकज्ञानदर्शनोपयोगवत्त्वेन समर्थनीयम्। निर्धर्मकत्वं चितः कौटस्थ्यमित्युक्तौ तत्र प्रमेयत्वादेरप्यभावप्रसङ्गात्, तथा च "सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म" इत्यादेरनुपपत्तिः। असदादिव्यावृत्ति-मात्रेण सदादिवचनोपपादने च चित्त्वमप्यचिद्व्यावृत्तिरेव स्यादिति गतं चित्सामान्येनापि। यदि च "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सद्" इति गुणस्थलोपदर्शितरीत्या स (द्) लक्षणं सर्वत्रोपपद्यते तदा संसा-रिमुक्तयोरसाङ्कर्येण स्वविभावस्वभावपर्यायैस्तदबाधमानं बन्धमो-क्षादिव्यवस्थामविरोधेनोपपादयतीति, एतज्जैनेश्वरप्रवचनामृतमा-पीय "उपचरितभोगाभावो मोक्षः" इत्यादि मिथ्यादृग्वचनवा-सनाविषमनादिकालनिपीतमुद्वमन्तु सहृदयाः!। अधिकं लतादौ॥

॥इति पातञ्जले साङ्ख्यप्रवचने योगशास्त्रे विभूतिपादस्तृतीयः॥

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः॥४—१॥

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम्—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥ ४—२॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः
क्षेत्रिकवत् ॥ ४-३ ॥

यदा तु योगी बहून् कायान्निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्काः ? इति—

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४-४ ॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥४-५॥

तत्र ध्यानजमनाशयः ॥ ४-६ ॥

यतः—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषां ॥४-७॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ४-८ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ४-९ ॥

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ ४-१० ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ४-११ ॥

नास्त्यसतः संभवो न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन संभवन्त्यः कथं निवर्त्तिष्यन्ते वासना इति—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ ४–१२ ॥

भाष्यम्—भविष्यद्व्यक्तिकमनागतम्, अनुभूतव्यक्तिकमतीतं, स्वव्यापारोपारूढं वर्त्तमानं, त्रयं चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत। तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति। किञ्च भोगभागीयस्य वापवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत। सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वजनने। सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति। धर्मी चानेकधर्मस्वभावस्तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः। न च यथा वर्तमानं व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्ति एवमतीतमनागतं च। कथं तर्हि? स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति, स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति। वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनोः। एकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वाभावस्त्रयाणामध्वनामिति॥

(य०)—द्रव्यपर्यायात्मनैवाध्वत्रयसमावेशो युज्यते नान्यथा, निमित्तस्वरूपभेदस्य परेणाप्यवश्याश्रयणीयत्वात् । तथा चाभूत्वा भावाभावयोरपि पर्यायद्रव्यस्वरूपाभ्यां स्याद्वाद एव युक्तोऽन्यथा प्रतिनियतवचनव्यवहाराद्यनुपपत्तेरिति तु श्रद्धेयं सचेतसा ॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ ४—१३ ॥

यदा तु सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ ४—१४ ॥

भाष्यम्—प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियम्, ग्राह्यात्मकानां शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति, शब्दादीनां मूर्त्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथ्वीपरमाणुस्तन्मात्रावयवस्तेषां चैकः परिणामः पृथ्वी गौ वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः।

(य०)—एकानेकपरिणामस्याद्वादाभ्युपगमं विं दुःश्रद्धानमेतत् ॥

कुतश्चैतदन्याय्यम् ?—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ४-१५॥

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ ४–१६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥४-१७

यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ ४–१८ ॥

भाष्यम्—यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत तदा तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवद् ज्ञाताज्ञाताः स्युः। सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति ॥

(य०)—ज्ञानरूपस्य चित्तस्यात्मनि धर्मितापरिणामः सदा सन्निहितत्वेन तस्य सदाज्ञातत्वेऽप्यनुपपन्नः, शब्दादीनां कादाचित्कसन्निधानेनैव व्यञ्जनावग्रहादिलक्षणेन ज्ञाताज्ञातत्वसंभवात्। अत एव केवलज्ञाने शक्तिविशेषेण विषयाणां सदा सन्निधानाद् ज्ञानावच्छेदकत्वेन तेषां सदाज्ञातत्वमबाधितमिति तु पारमेश्वरप्रवचनप्रसिद्धः पन्थाः ॥ प्रकृतम्—

स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासं च भविष्यत्यग्निवत्—

---

१ 'तत्प्रमाणकं' इत्यपि। २ 'पि नानुपपन्नः' इति स्यात्।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ ४–१९ ॥

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ ४–२० ॥

स्यान्मतिः स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ ४–२१ ॥

कथम् ?—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ ४–२२ ॥

अतश्चैतदभ्युपगम्यते—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ ४–२३ ॥

भाष्यम्—मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं, तत्स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणात्मीयया वृत्त्याभिसंबद्धं, तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते । तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वम्, नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति । अनुकम्पनी-

यास्ते । कस्मात् ? अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकार-निर्भासं चित्तमिति । समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बी-भूतः तस्यालम्बनीभूतत्वादन्यः । स चेदर्थः चित्तमात्रं स्यात् कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत । तस्मात्प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति । एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्व-रूपचित्तभेदात्त्रयमप्येतज्जातितः प्रविभजन्ते ते सम्यग्दर्शिनः तैरधिगतः पुरुष इति ॥

(य०)—वयं तु ब्रूमः—अग्निरूपात्मके प्रकाशे संयोगं विनाऽपि यथा स्वतःप्रकाशकत्वं तथा चैतन्येऽपि प्रतिप्राणि परानपेक्षतयानुभूयमाने, अन्यथाऽनवस्थाऽन्यासङ्गानुपपत्त्यादिदो-षप्रसङ्गात् । परप्रकाशकत्वं च तस्य क्षयोपशमदशायां प्रतिनियत-विषयसंबन्धाधीनम् । क्षायिक्यां च दशायां सदा तन्निरावरण-स्वभावाधीनम् । तच्चैतन्यं रूपादिवत्सामान्यवदस्पन्दात्मकानुपादा-नकारणत्वेन गुण इति गुण्याश्रित एव स्यात् । यश्च तस्य गुणी स एवात्मा । निर्गुणत्वं च तस्य सांसारिकगुणाभावापेक्षयैव (न) अन्यथा, (तस्य) स्वाभाविकानन्तगुणाधारत्वाद् । बिम्ब-भूतचितो निर्लेपत्वाभ्युपगमे च तत्प्रतिबिम्बग्राहकत्वेन बुद्धौ प्रका-शस्यानुपपत्तिः, बिम्बप्रतिबिम्बभावसंबन्धस्य द्विष्ठत्वेन द्वयोरपि लेपकत्वतौल्यात् । उपचरितबिम्बत्वोपपादने चोपचरितसर्वविषय-त्वाद्युपपादनमपि तुल्यमिति नयादेशविशेषपक्षपातमात्रमेतत् ॥

प्रकृतं प्रस्तुमः—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्य-
कारित्वात् ॥ ४—२४ ॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥४—२५॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥४—२६॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥४—२७॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ ४—२८ ॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्म-
मेघः समाधिः ॥ ४—२९ ॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ४—३० ॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेय-
मल्पम् ॥ ४—३१ ॥

भाष्यम्—सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति । आवरकेण तमसाऽभिभूतमावृतं अनन्तं ज्ञान-सत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति। तत्र यदा सर्वैरावरणमलैरपगतं भवति तदा भवत्यस्यानन्त्यं, ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं संपद्यते, यथाऽऽकाशे खद्योतः । यत्रेदमुक्तम्—" अन्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत् । अ-ग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥ १ ॥ " इति ॥

(य०)—अयुक्तमेतत् । ज्ञानस्य ज्ञेयांश एवावरणस्यावारकत्वात्, स्वरूपावरणेऽचैतन्यप्रसङ्गात् । ज्ञानानन्त्ये ज्ञेयानन्त्यस्यापि ध्रौव्यात् । उक्तं च—सूक्तं चात्मपरात्मकर्तृकर्म जाव पदपदमिति दिग् ॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ४—३२ ॥

अथ कोऽयं क्रमो नाम ? इति—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ४—३३ ॥

भाष्यम्—क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः । न ह्यननुभूतक्रमक्षणा नवस्य पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति । नित्येषु च क्रमो दृष्टः । द्वयी चेयं नित्यता, कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च । तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम् । यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम् । उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम् । तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानो नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्यवसानः । कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरू-

यास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति । तत्राप्यलब्धपर्यवसानः शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति ॥

(य०)—सर्वत्र द्रव्यतयाऽक्रमस्य पर्यायतया च क्रमस्यानुभवात् क्रमाक्रमानुविद्धत्रैलक्षण्यस्यैव सुलक्षणत्वात् कूटस्थनित्यतायां मानाभावः । पर्याये च स्थितिचातुर्विध्याद्वैविध्यमिति प्रवचनरहस्यमेव सयुक्तिकमिति तु श्रद्धेयम् ॥ प्रकृतम्—

अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वा ? इति । अवचनीयमेतत् । कथम् ? अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यति । ॐ भो इति । अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति विभज्य वचनीयमेतत् । प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यते इतरस्तु जनिष्यते । तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसी ? इत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः, पशूनुद्दिश्य श्रेयसी, देवान् ऋषींश्चाधिकृत्य नेति । अयं त्ववचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति ?। कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमाप्तिर्नेतरस्येति अन्यतरावधारणे दोषः । तस्माद्व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति ॥

गुणाधिकारक्रमपरिसमाप्तौ कैवल्यमुक्तम्, तत्स्वरूपमवधार्यते—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं

स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ४–३४ ॥

॥ इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे साङ्ख्यप्रवचने कैवल्यपादश्चतुर्थः ॥

अयं पातञ्जलस्यार्थः किञ्चित्स्वसमयाङ्कितः ।
दर्शितः प्राज्ञबोधाय यशोविजयवाचकैः ॥ १ ॥

॥ अर्हम् ॥

श्रीमद्-हरिभद्रसूरिसंदर्भिता
श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचितव्याख्यासंवलिता

योगविंशिका ।

॥ ऐँ नमः ॥ अथ योगविंशिका व्याख्यायते—

मुक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो ।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेणं ॥ १ ॥

'मुक्खेण' त्ति । 'मोक्षेण' महानन्देन योजनात् 'सर्वोऽपि धर्मव्यापारः' साधोरालयविहारभाषाविनयभिक्षाटनादिक्रियारूपो योगो विज्ञेयः, योजनाद्योग इति व्युत्पत्त्यर्थानुगृहीतमोक्षकारणीभूतात्मव्यापारत्वरूपयोगलक्षणस्य सर्वत्र घटमानत्वात् । कीदृशो धर्मव्यापारो योगः ? इत्याह— 'परिशुद्धः' प्रणिधानाद्याशयविशुद्धिमान्, अनीदृशस्य द्रव्यक्रियारूपत्वेन तुच्छत्वात्, उक्तं च—"आशयभेदा एते, सर्वेऽपि हि तत्त्वतोऽवगन्तव्याः । भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा ॥" (षोडशक ३–१२) 'एते' प्रणिधानादयः सर्वेऽपि कथञ्चित्क्रियारूपत्वेऽपि तदुपलक्ष्या आशय-

भेदाः, 'अयं' च पञ्चप्रकारोऽप्याशयो भावः, अनेन विना 'चेष्टा' कायवाङ्मनोव्यापाररूपा द्रव्यक्रिया 'तुच्छा' असारा अभिलषितफलासाधकत्वादित्येतदर्थः ॥ अथ के ते प्रणिधानाद्याशयाः ? उच्यते—प्रणिधानं प्रवृत्तिर्विघ्नजयः सिद्धिर्विनियोगश्चेति पञ्च, आह च—"प्रणिधि-प्रवृत्ति-विघ्न-जय-सिद्धि-विनियोगभेदतः प्रायः । धर्मज्ञैराख्यातः, शुभाशयः पञ्चधाऽत्र विधौ ॥" (षो० ३-६) इति । तत्र हीनगुणद्वेषाभावपरोपकारवासनाविशिष्टोऽधिकृतधर्मस्थानस्य कर्तव्यतोपयोगः प्रणिधानम्, उक्तं च—"प्रणिधानं तत्समये, स्थितिमत्तदधः कृपानुगं चैव । निरवद्यवस्तुविषयं, परार्थनिष्पत्तिसारं च ॥" (षो० ३-७) 'तत्समये' प्रतिपन्नधर्मस्थानमर्यादायां 'स्थितिमत्' अविचालितस्वभावम्, 'तदधः' स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानादधस्तनगुणस्थानवर्त्तिषु जीवेषु 'कृपानुगं' करुणापरम्, न तु गुणहीनत्वात्तेषु द्वेषान्वितम्, शेषं सुगमम् ॥ अधिकृतधर्मस्थानोद्देशेन तदुपायविषय इतिकर्तव्यताशुद्धः शीघ्रक्रियासमाप्तीच्छादिलक्षणौत्सुक्यविरहितः प्रयत्नातिशयः प्रवृत्तिः, आह च—"तत्रैव तु प्रवृत्तिः, शुभसारोपायसङ्गतात्यन्तम् । अधिकृतयत्नातिशयादौत्सुक्यविवर्जिता चैव ॥" (षो० ३-८) 'तत्रैव' अधिकृतधर्मस्थान एव शुभः-प्रकृष्टः सारो-नैपुण्यान्वितो य उपायस्तेन संगता ॥ विघ्नजयो नाम विघ्नस्य जयोऽस्मादिति व्यु-

त्पत्त्या धर्मान्तरायनिवर्त्तकः परिणामः । स च जेतव्यविघ्नत्रैविध्यात्रिविधः, तथाहि—यथा कस्यचित्कण्टकाकीर्णमार्गावतीर्णस्य कण्टकविघ्नो विशिष्टगमनविघातहेतुर्भवति, तदपनयनं तु पथि प्रस्थितस्य निराकुलगमनसंपादकं, तथा मोक्षमार्गप्रवृत्तस्य कण्टकस्थानीयशीतोष्णादिपरीषहैरुपद्रुतस्य न निराकुलप्रवृत्तिः, तत्तितिक्षाभावनया तदपाकरणे त्वनाकुलप्रवृत्तिसिद्धिरिति कण्टकविघ्नजयसमः प्रथमो हीनो विघ्नजयः । तथा तस्यैव ज्वरेण भृशमभिभूतस्य निराकुलगमनेच्छोरपि तत्कर्त्तुमशक्नुवतः कण्टकविघ्नादधिको यथा ज्वरविघ्नस्तज्जयश्च विशिष्टगमनप्रवृत्तिहेतुस्तथेहापि ज्वरकल्पाः शारीरा एव रोगा विशिष्टधर्मस्थानाराधनप्रतिबन्धकत्वाद्विघ्नास्तदपाकरणं च "हियाहारा मियाहारा" (पिंडनिर्युक्ति–गा० ६४८) इत्यादिसूत्रोक्तरीत्या तत्कारणानासेवनेन, 'न मत्स्वरूपस्यैते परीषहा लेशतोऽपि बाधकाः किन्तु देहमात्रस्यैव' इति भावनाविशेषेण वा सम्यग्धर्माराधनाय समर्थमिति ज्वरविघ्नजयसमो मध्यमो द्वितीयो विघ्नजयः । यथा च तस्यैवाध्वनि जिगमिषोर्दिग्मोहविघ्नोपस्थितौ भूयो भूयः प्रेर्यमाणस्याप्यध्वनीनैर्न गमनोत्साहः स्यात्तद्विजये तु स्वयमेव सम्यग्ज्ञानात्परैश्चाभिधीयमानमार्गश्रद्धानान्मन्दोत्साहतात्यागेन विशिष्टगमनसंभवस्तथेहापि मोक्षमार्गे दिग्मोहकल्पो मिथ्यात्वादिजनितो मनोविभ्रमो विघ्नस्तज्जयस्तु गुरुपारतन्त्र्येण मिथ्यात्वादिप्रतिपक्षभावनया

मनोविभ्रमापनयनादनवच्छिन्नप्रयाणसंपादक इत्ययं मोहविघ्नजयसम उत्तमस्तृतीयो विघ्नजयः । एते च त्रयोऽपि विघ्नजया आशयरूपाः समुदिताः प्रवृत्तिहेतवोऽन्यतरवैकल्येऽपि तदसिद्धेरित्यवधेयम् उक्तं च—" विघ्नजयस्त्रिविधः खलु, विज्ञेयो हीनमध्यमोत्कृष्टः । मार्ग इह कण्टकज्वरमोहजयसमः प्रवृत्तिफलः ॥" (षो० ३-८) इति॥ अतिचाररहिताधिकगुणे गुर्वादौ विनयवैयावृत्त्यबहुमानाद्यन्विता हीनगुणे निर्गुणे वा दयादानव्यसनपतितदुःखापहारादिगुणप्रधाना मध्यमगुणे चोपकारफलवत्यधिकृतधर्मस्थानस्याहिंसादेः प्राप्तिः सिद्धिः, उक्तं च-" सिद्धिस्तत्तद्धर्मस्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया । अधिके विनयादियुता, हीने च दयादिगुणसारा ॥ " (षो० ३-१०) इति ॥ स्वप्राप्तधर्मस्थानस्य यथोपायं परस्मिन्नपि संपादकत्वं विनियोगः, अयं चानेकजन्मान्तरसन्तानक्रमेण प्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तेरवन्ध्यो हेतुः, उक्तं च—" सिद्धेश्चोत्तरकार्यं, विनियोगोऽवन्ध्यमेतदेतस्मिन् । सत्यन्वयसंपत्त्या, सुन्दरमिति तत्परं यावत् ॥ " (षो० ३-११) 'अवन्ध्यं' न कदाचिन्निष्फलं 'एतत्' धर्मस्थानमहिंसादि, 'एतस्मिन्' विनियोगे सति 'अन्वयसंपत्त्या' अविच्छेदभावेन 'तत्' विनियोगसाध्यं धर्मस्थानं सुन्दरम् । 'इतिः' भिन्नक्रमः समाप्त्यर्थश्च, यावत्परमित्येवं योगः, यावत् 'परं' प्रकृष्टं धर्मस्थानं समाप्यत इत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्—धर्मस्तावद्रागा-

दिमलविगमेन पुष्टिशुद्धिमच्चित्तमेव । पुष्टिश्च पुण्योपचयः, शुद्धिश्च घातिकर्मणां पापानां क्षयेण या काचिन्निर्मलता, तदुभयं च प्रणिधानादिलक्षणेन भावेनानुबन्धवद्भवति, तदनुबन्धाच्च शुद्धिप्रकर्षः संभवति, निरनुबन्धं च तदशुद्धिफलमेवेति न तद्धर्मलक्षणम्, ततो युक्तमुक्तं "प्रणिधानादिभावेन परिशुद्धः सर्वोऽपि धर्मव्यापारः सानुबन्धत्वाद् योगः" इति । यद्यप्येवं निश्चयतः परिशुद्धः सर्वोऽपि धर्मव्यापारो योगस्तथापि 'विशेषेण' तान्त्रिकसंकेतव्यवहारकृतेनासाधारण्येन स्थानादिगत एव धर्मव्यापारो योगः, स्थानाद्यन्यतम एव योगपदप्रवृत्तेः सम्मतत्वादिति भावः ॥ १ ॥

स्थानादिगतो धर्मव्यापारो विशेषेण योग इत्युक्तम्, तत्र के ते स्थानादयः ? कतिभेदं च तत्र योगत्वम् ? इत्याह—

ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ तंतम्मि पंचहा एसो ।
दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणंजोगो उ ॥२॥

'ठाणुन्नत्थे'त्यादि । स्थीयतेऽनेनेति स्थानं—आसनविशेषरूपं कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्मासनादि सकलशास्त्रप्रसिद्धम्, ऊर्णः—शब्दः स च क्रियादावुच्चार्यमाणसूत्रवर्णलक्षणः, अर्थः—शब्दाभिधेयव्यवसायः, आलम्बनं—बाह्यप्रतिमादिविष-

१ "नाणजोगा उ" इत्यपि ।

यध्यानम्, एते चत्वारो भेदाः, 'रहितः' इति रूपिद्रव्याल-
म्बनरहितो निर्विकल्पचिन्मात्रसमाधिरूप इत्येवं 'एषः' योगः
पञ्चविधः 'तन्त्रे' योगप्रधानशास्त्रे, प्रतिपादित इति शेषः,
उक्तं च-"स्थानोर्णार्थालम्बनतदन्ययोगपरिभावनं सम्यक्।
परतत्त्वयोजनमलं, योगाभ्यास इति समयविदः[२] ॥" (षोड०
१३-४) इति। स्थानादिषु योगत्वं च "मोक्षकारणीभूता-
त्मव्यापारत्वं योगत्वम्" इति योगलक्षणयोगादनुपचरितमेव।
यत्तु "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध-
योऽष्टावङ्गानि योगस्य" (पातं० सू० २-२९) इति योगा-
ङ्गत्वेन योगरूपता स्थानादिषु हेतुफलभावेनोपचारादभिधीयत
इति षोडशकवृत्तावुक्तं तत् "चित्तवृत्तिनिरोधो योगः"
(पा० यो० द० १-२) इति योगलक्षणाभिप्रायेणेति ध्येयम्।
अत्र स्थानादिषु 'द्वयं' स्थानोर्णलक्षणं कर्मयोग एव, स्थानस्य
साक्षादूर्णस्याप्युच्चार्यमाणस्यैव ग्रहणादुच्चारणांशे क्रियारूप-
त्वात्। तथा 'त्रयं' अर्थालम्बननिरालम्बनलक्षणं ज्ञानयोगः,
'तुः' एवकारार्थ इति ज्ञानयोग एव, अर्थादीनां साक्षाद्
ज्ञानरूपत्वात् ॥ २ ॥

एष कर्मयोगो ज्ञानयोगो वा कस्य भवतीति स्वामि-
चिन्तायामाह—

---

२ 'तत्त्वविदः' इत्यपि।

देसे सव्वे य तहा, नियमेणेसो चरित्तिणो होइ ।
इयरस्स बीयमित्तं, इत्तु च्चिय केइ इच्छंति ॥ ३ ॥

'देसे सव्वे य' त्ति । सप्तम्याः पञ्चम्यर्थत्वाद्देशतस्तथा सर्वतश्च चारित्रिण एव 'एषः' प्रागुक्तः स्थानादिरूपो योगः 'नियमेन' इतरव्यवच्छेदलक्षणेन निश्चयेन भवति, क्रियारूपस्य ज्ञानरूपस्य वाऽस्य चारित्रमोहनीयक्षयोपशमनान्तरीयकत्वात्, अत एवाध्यात्मादियोगप्रवृत्तिरपि चारित्रप्राप्तिमारभ्यैव ग्रन्थकृता योगबिन्दौ प्ररूपिता, तथाहि—"देशादिभेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः । अत्र पूर्वोदितो योगोऽध्यात्मादिः संप्रवर्तते ॥ १ ॥" (३५६ श्लोक) इति, 'देशादिभेदतः' देशसर्वविशेषाद् 'इदं' चारित्रं 'अध्यात्मादिः' अध्यात्मं १ भावना २ आध्यानं ३ समता ४ वृत्तिसंक्षयश्च ५, तत्राध्यात्मं उचितप्रवृत्तेर्व्रतभृतो मैत्र्यादिभावगर्भं शास्त्राज्जीवादितत्त्वचिन्तनम् १, भावना अध्यात्मस्यैव प्रतिदिनं प्रवर्धमानश्चित्तवृत्तिनिरोधयुक्तोऽभ्यासः २, आध्यानं प्रशस्तैकार्थविषयं स्थिरप्रदीपसदृशमुत्पातादिविषयसूक्ष्मोपयोगयुतं चित्तम् ३, समता अविद्याकल्पितेष्टानिष्टत्वसंज्ञापरिहारेण शुभाशुभानां विषयाणां तुल्यताभावनम् ४, वृत्तिसंक्षयश्च मनोद्वारा विकल्परूपाणां शरीरद्वारा परिस्पन्दरूपाणामन्यसंयोगात्मकवृत्तीनामपुनर्भावेन निरोधः ५ । अथैतेषामध्यात्मादीनां स्थानादिषु कुत्र

कस्यान्तर्भाव: इति चेद्, उच्यते—अध्यात्मस्य चित्रभेदस्य देवसेवाजपतत्त्वचिन्तनादिरूपस्य यथाक्रमं स्थाने ऊर्णेऽर्थे च। भावनाया अपि भाव्यसमानविषयत्वात्तत्रैव। ध्यानस्यालम्बने। समतावृत्तिसंक्षययोश्च तदन्ययोग इति भावनीयम्। ततो देशतः सर्वतश्च चारित्रिण एव स्थानादियोगप्रवृत्तिः संभवतीति सिद्धम्। ननु यदि देशतः सर्वतश्च चारित्रिण एव स्थानादियोगः तदा देशविरत्यादिगुणस्थानहीनस्य व्यवहारेण श्राद्धधर्मादौ प्रवर्तमानस्य स्थानादिक्रियायाः सर्वथा नैष्फल्यं स्यादित्याशङ्क्याह—'इतरस्य' देशसर्वचारित्रिव्यतिरिक्त [स्य] स्थानादिकं ' इत एव ' देशसर्वचारित्रं विना योगसंभवाभावादेव ' बीजमात्रं ' योगबीजमात्रं ' केचिद् ' व्यवहारनयप्रधाना इच्छन्ति। " मोक्षकारणीभूतचारित्रतत्त्वसंवेदनान्तर्भूतत्वेन स्थानादिकं चारित्रिण एव योगः, अपुनर्बन्धकसम्यग्दृशोस्तु तद्योगबीजम् " इति निश्चयनयाभिमतः पन्थाः। व्यवहारनयस्तु योगबीजमप्युपचारेण योगमेवेच्छतीति व्यवहारनयेनापुनर्बन्धकादयः स्थानादियोगस्वामिनः, निश्चयनयेन तु चारित्रिण एवेति विवेकः। तदिदमुक्तम्—

" अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः। अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ २ ॥ " (यो० बिं० ३६८ श्लोक.) इति। अपुनर्बन्धकस्य उपलक्षणात्सम्यग्दृष्टेश्च 'व्यव-

हारेण ' कारणे कार्यत्वोपचारेण तात्त्विकः, कारणस्यापि कथञ्चित्कार्यत्वात् । ' निश्चयेन ' उपचारपरिहारेण ' उत्तरस्य तु ' चारित्रिण एव ॥ सकृद्बन्धकादीनां तु स्थानादिकमशुद्ध-परिणामत्वान्निश्चयतो व्यवहारतश्च न योगः किन्तु योगाभ्यास इत्यवधेयम्, उक्तं च—" सकृदावर्त्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः । प्रत्यपायफलप्रायस्तथा वेषादिमात्रतः ॥ ३ ॥ " (यो० बिं० ३६६ श्लोक.) सकृद्—एकवारमावर्तन्ते—उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति, ये ते सकृदावर्तनाः, आदिशब्दाद्द्विरावर्तनादिग्रहः, ' अतात्त्विकः ' व्यवहारतो निश्चयतश्चातत्त्वरूपः॥३॥

तदेवं स्थानादियोगस्वामित्वं विवेचितम्, अथैतेष्वेव प्रतिभेदानाह—

इक्किक्को य चउद्धा, इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो ।
इच्छापवित्तिथिरसिद्धिभेयओ समयनीईए ॥ ४ ॥

'इक्किको य' त्ति । 'अत्र' स्थानादौ 'पुनः' कर्मज्ञानविभेदाभिधानापेक्षया भूयः एकैकश्चतुर्द्धा 'तत्त्वतः' सामान्येन दृष्टावपि परमार्थतः ' समयनीत्या ' योगशास्त्रप्रतिपादितपरिपाट्या ' इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धिभेदतः ' इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धिभेदानाश्रित्य ' मुणेयव्वो ' त्ति ज्ञातव्यः ॥ ४ ॥

तानेव भेदान् विवरीषुराह—

तज्जुत्तकहापीईइ संगया विपरिणामिणी इच्छा।
सव्वत्थुवसमसारं, तप्पालणमो पवत्ती उ ॥ ५ ॥
तह चेव एयबाहग-चिंतारहियं थिरत्तणं नेयं।
सव्वं परत्थसाहग-रूवं पुण होइ सिद्धि त्ति ॥६॥

'तज्जुत्तकहा' इत्यादि। तद्युक्तानां-स्थानादियोगयुक्तानां कथायां प्रीत्या-अर्थबुभुत्सयाऽर्थबोधेन वा जनितो यो हर्षस्तल्लक्षणया संगता-सहिता 'विपरिणामिनी' विधिकर्तृबहुमानादिगर्भं स्त्रोल्लासमात्राद्यत्किञ्चिदभ्यासादिरूपं विचित्रं परिणाममादधाना इच्छा भवति, द्रव्यक्षेत्राद्यसामग्र्येणाङ्गसाकल्याभावेऽपि यथाविहितस्थानादियोगेच्छया यथाशक्ति क्रियमाणं स्थानादि इच्छारूपमित्यर्थः। प्रवृत्तिस्तु 'सर्वत्र' सर्वावस्थायां 'उपशमसारं' उपशमप्रधानं यथा स्यात्तथा 'तत्पालनं' यथाविहितस्थानादियोगपालनम्, 'ओ' त्ति प्राकृतत्वात्। वीर्यातिशयाद् यथाशास्त्रमङ्गसाकल्येन विधीयमानं स्थानादि प्रवृत्तिरूपमित्यर्थः ॥ ५ ॥
'तह चेव' त्ति। 'तथैव' प्रवृत्तिवदेव सर्वत्रोपशमसारं स्थानादिपालनमेतस्य-पाल्यमानस्य स्थानादेर्बाधकचिन्तारहितं स्थिरत्वं ज्ञेयम्। प्रवृत्तिस्थिरयोगयोरेतावान् विशेषः—यदुत प्रवृत्तिरूपस्थानादियोगविधानं सातिचारत्वाद्बाधकचिं-

न्तासहितं भवति । स्थिररूपं त्वभ्याससौष्ठवेन निर्बाधकमेव जायमानं तज्जातीयत्वेन बाधकचिन्ताप्रतिघाताच्छुद्धिविशेषेण तदनुत्थानाच्च तद्रहितमेव भवतीति । 'सर्वं' स्थानादि स्व-सन्निहितानां स्थानादियोगशुद्ध्यभाववतामपि तत्सिद्धिविधानद्वारा परगतस्वसदृशफलसंपादकं पुनः सिद्धिर्भवति । अत एव सि-द्धाऽहिंसानां समीपे हिंसाशीला अपि हिंसां कर्तुं नालम्, सिद्ध-सत्यानां च समीपेऽसत्यप्रिया अप्यसत्यमभिधातुं नालम् । एवं सर्वत्रापि ज्ञेयम् । 'इतिः' इच्छादिभेदपरिसमाप्तिसूचकः । अत्रायं मत्कृतः संग्रहश्लोकः—"इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः, पालनं शमसंयुतम् । पालनं (प्रवृत्तिः) दोषभीहानिः स्थैर्यं सिद्धिः परार्थता ॥१॥" इति ॥६॥ उक्ता इच्छादयो भेदाः, अथैतेषां हेतूनाह—

एए य चित्तरूवा, तहाखओवसमजोगओ हुंति ।
तस्स उ सद्धापीयाइजोगओ भव्वसत्ताणं ॥ ७ ॥

'एए य' त्ति । 'एते च' इच्छादयः 'चित्ररूपाः' परस्परं विजातीयाः स्वस्थाने चासङ्ख्यभेदभाजः, 'तस्य तु' अधिकृतस्य स्थानादियोगस्यैव श्रद्धा—इदमित्थमेवेति प्रतिपत्तिः, प्रीतिः—तत्करणादौ हर्षः, आदिना धृतिधारणादिपरिग्रहस्तद्योगतः 'भव्यसत्त्वानां' मोक्षगमनयोग्यानामपुनर्बन्ध-

कादिजन्तूनां 'तथाक्षयोपशमयोगतः' तत्तत्कार्यजननाकूल-विचित्रक्षयोपशमसंपत्त्या भवन्ति, इच्छायोगादिविशेषे आशयभेदाभिव्यङ्ग्यः क्षयोपशमभेदो हेतुरिति परमार्थः। अत एव यस्य यावन्मात्रः क्षयोपशमस्तस्य तावन्मात्रेच्छादिसंपत्त्या मार्गे प्रवर्त्तमानस्य सूक्ष्मबोधाभावेऽपि मार्गानुसारिता न व्याहन्यत इति संप्रदायः ॥ ७ ॥ इच्छादीनामेव हेतुभेदमभिधाय कार्यभेदमभिधत्ते—

अणुकंपा निव्वेओ, संवेगो होइ तह य पसमु त्ति ।
एएसिं अणुभावा, इच्छाईणं जहासंखं ॥ ८ ॥

'अणुकंप' त्ति । 'अनुकम्पा' द्रव्यतो भावतश्च यथाशक्ति दुःखितदुःखपरिहारेच्छा, 'निर्वेदः' नैर्गुण्यपरिज्ञानेन भवचारकाद्विरक्तता, 'संवेगः' मोक्षाभिलाषः, तथा 'प्रशमश्च' क्रोधकण्डूविषयतृष्णोपशमः, इत्येते 'एतेषां' इच्छादीनां योगानां यथासङ्ख्यं अनु—पश्चाद् भावाः 'अनुभावाः' कार्याणि भवन्ति। यद्यपि सम्यक्त्वस्यैवैते कार्यभूतानि लिङ्गानि प्रवचने प्रसिद्धानि तथापि योगानुभवसिद्धानां विशिष्टानामेतेषामिहेच्छायोगादिकार्यत्वमभिधीयमानं न विरुध्यत इति द्रष्टव्यम्। वस्तुतः केवलसम्यक्त्वलाभेऽपि व्यवहारेणेच्छादियोगप्रवृत्तेरेवानुकम्पादिभावसिद्धेः । अनुकम्पादिसामान्ये इच्छायोगादिसामान्यस्य तद्विशेषे च तद्विशेषस्य

हेतुत्वमित्येव न्यायसिद्धम् । अत एव शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणानां सम्यक्त्वगुणानां पश्चानुपूर्व्यैव लाभक्रमः । प्राधान्याच्चेत्थमुपन्यास इति सद्धर्मविंशिकायां प्रतिपादितम् ॥ ८॥ तदेवं हेतुभेदेनानुभावभेदेन चेच्छादिभेदविवेचनं कृतम्, तथा च स्थानादावेकैकस्मिन्निच्छादिभेदचतुष्टयसमावेशादेतद्विषया अशीतिर्भेदाः संपन्ना एतन्निवेदनपूर्वमिच्छादिभेदभिन्नानां स्थानादीनां सामान्येन योजनां शिक्षयन्नाह—

एवं ठियम्मि तत्ते, नाएण उ जोयणा इमा पयडा ।
चिइवंदणेण नेया, नवरं तत्तण्णुणा सम्मं ॥ ९ ॥

'एवं' इत्यादि । 'एवं' अमुना प्रकारेणेच्छादिप्रतिभेदैरशीतिभेदो योगः, सामान्यतस्तु स्थानादिः पञ्चभेद इति 'तत्त्वे' योगतत्त्वे 'स्थिते' व्यवस्थिते 'ज्ञातेन तु' दृष्टान्तेन तु चैत्यवन्दनेन इयं 'प्रकटा' क्रियाभ्यासपरजनप्रत्यक्षविषया 'योजना' प्रतिनियतविषयव्यवस्थापना 'नवरं' केवलं तत्त्वज्ञेन 'सम्यग्' अवैपरीत्येन ज्ञेया ॥ ९ ॥ तामेवाह—

अरिहंतचेइयाणं, करेमि उस्सग्ग एवमाइयं ।
"ाजुत्तस्स तहा, होइ जहत्थं पयन्नाणं ॥१०॥
अधिक्
पत्तिः, प्रत्थालंबण—जोगवओ पायमविवरीयं तु ।
प्रहस्तयोग ठाणाइसु, जत्तपराणं परं सेयं ॥ ११ ॥

'अरिहंत' इत्यादि । "अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं" एवमादि चैत्यवन्दनदण्डकविषयं 'श्रद्धायुक्तस्य' क्रियास्तिक्यवतः 'तथा' तेन प्रकारेणोच्चार्यमाणस्वरसंपन्मात्रादिशुद्धस्फुटवर्णानुपूर्वीलक्षणेन 'यथार्थं' अभ्रान्तं पदज्ञानं भवति, परिशुद्धपदोच्चारे दोषाभावे सति परिशुद्धपदज्ञानस्य श्रावणसामग्रीमात्राधीनत्वादिति भावः ॥ १० ॥ 'एयं च' त्ति । 'एतच्च' परिशुद्धं चैत्यवन्दनदण्डकपदपरिज्ञानम्, अर्थः—उपदेशपदप्रसिद्धपदवाक्यमहावाक्यैदंपर्यार्थपरिशुद्धज्ञानम्, आलम्बनं च—प्रथमे दण्डकेऽधिकृततीर्थकृद्, द्वितीये सर्वे तीर्थकृतः, तृतीये प्रवचनम्, चतुर्थे सम्यग्दृष्टिः शासनाधिष्ठायक इत्यादि, तद्योगवतः—तत्प्रणिधानवतः 'प्रायः' बाहुल्येन 'अविपरीतं तु' अभीप्सितपरमफलसंपादकमेव, अर्थालम्बनयोगयोर्ज्ञानयोगतयोपयोगरूपत्वात्, तत्सहितस्य चैत्यवन्दनस्य भावचैत्यवन्दनत्वसिद्धेः, भावचैत्यवन्दनस्य चामृतानुष्ठानरूपत्वेनावश्यं निर्वाणफलत्वादिति भावः । प्रायोग्रहणं सापाययोगवद्व्यावृत्त्यर्थम् । द्विविधो हि योगः—सापायो निरपायश्च, तत्र निरुपक्रममोक्षपथप्रतिकूलचित्तवृद्धिकारणं प्राक्कालार्जितं कर्म अपायस्तत्सहितो योगः सापायः, तद्रहितस्तु निरपाय इति । तथा च सापायार्थालम्बनयोगवतः कदाचित्फलविलम्बसम्भवेऽपि निरपायतद्वतोऽविलम्बेन फलोत्पत्तौ न व्यभिचार इति प्रायोग्रहणार्थः । 'इतरेषां'

अर्थालम्बनयोगाभाववतामेतच्चैत्यवन्दनसूत्रपदपरिज्ञानं 'स्थानादिषु यत्नवतां' गुरूपदेशानुसारेण विशुद्धस्थानवर्णाद्यपरायणानामर्थालम्बनयोगयोश्च तीव्रस्पृहावतां 'परं' केवलं श्रेयः, अर्थालम्बनयोगाभावे वाचनायां प्रच्छनायां परावर्तनायां वा तत्पदपरिज्ञानस्यानुप्रेक्षाऽसंवलितत्वेन "अनुपयोगो द्रव्यम्" इतिकृत्वा द्रव्यचैत्यवन्दनरूपत्वेऽपि स्थानोर्णयोगयत्नातिशयादर्थालम्बनस्पृहयालुतया च तद्धेत्वनुष्ठानरूपतया भावचैत्यवन्दनद्वारा परम्परया स्वफलसाधकत्वादिति भावः ॥ ११ ॥ स्थानादियत्नाभावे च तच्चैत्यवन्दनानुष्ठानमप्राधान्यरूपद्रव्यतामास्कन्दन्निष्फलं विपरीतफलं वा स्यादिति लेशतोऽपि स्थानादियोगाभाववन्तो नैतत्प्रदानयोग्या इत्युपदिशन्नाह—

इहरा उ कायवासियपायं अहवा महामुसावाओ।
ता अणुरूवाणं चिय, कायव्वो एयविन्नासो ॥१२॥

'इहरा उ'त्ति। 'इतरथा तु' अर्थालम्बनयोगाभाववतां स्थानादियत्नाभावे तु तत् चैत्यवन्दनानुष्ठानं 'कायवासितप्रायं' सम्मूर्च्छनजप्रवृत्तितुल्यकायचेष्टितप्रायं मानसोपयोगशून्यत्वात्, उपलक्षणाद्वाग्वासितप्रायमपि द्रष्टव्यं, तथा चाननुष्ठानरूपत्वान्निष्फलमेतादिति भावः। 'अथवा' इति दोषान्तरे, तच्चैत्यवन्दनानुष्ठानं महामृषावादः, "स्थानमौन-

ध्यानेनात्मानं व्युत्सृजामि" (ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि")इति प्रतिज्ञया विहितस्य चैत्यवन्दनकायोत्सर्गादेः स्थानादिभङ्गे मृषावादस्य स्फुटत्वात्, स्वयं विधिविपर्ययप्रवृत्तौ परेषामेतदनुष्ठाने मिथ्यात्वबुद्धिजननद्वारा तस्य लौकिकमृषावादादतिगुरुत्वाच्च, तथा च विपरीतफलं तेषामेतदनुष्ठानं सम्पन्नम् । येऽपि स्थानादिशुद्धमप्यैहिककीर्त्यादीच्छयाऽऽमुष्मिकस्वर्लोकादिविभूतीच्छया चैतदनुष्ठानं कुर्वन्ति तेषामपि मोक्षार्थकप्रतिज्ञया विहितमेतत्तद्विपरीतार्थतया क्रियमाणं विषगरानुष्ठानान्तर्भूतत्वेन महामृषावादानुबन्धित्वाद्विपरीतफलमेवेति । विषाद्यनुष्ठानस्वरूपं चेत्थमुपदर्शितं पतञ्जल्याद्युक्तभेदान् स्वतन्त्रेण संवादयता ग्रन्थकृतैव योगबिन्दौ—" विषं गरोऽननुष्ठानं, तद्धेतुरमृतं परम् । गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ॥ १ ॥ " (१५५ श्लो) ' विषं ' स्थावरजङ्गमभेदभिन्नम् , ततो विषमिव विषम्, एवं गर इव गरः, परं गरः कुद्रव्यसंयोगजो विषविशेषः, ' अननुष्ठानं ' अनुष्ठानाभासं, 'तद्धेतुः' अनुष्ठानहेतुः, अमृतमिवामृतं अमरणहेतुत्वात्, अपेक्षा–इहपरलोकस्पृहा, आदिशब्दादनाभोगादेश्च यद् विधानं–विशेषस्तस्मात् ॥ " विषं लब्ध्याद्यपेक्षातः, इदं सच्चित्तमारणात् । महतोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं, लघुत्वापादनात्तथा ॥२॥" (१५६ श्लो) लब्ध्यादेः–लब्धिकीर्त्यादेः अपेक्षातः–स्पृहातः ' इदं ' अनुष्ठानं विषं 'सच्चित्तमारणात्' परिशुद्धान्तःकरण-

परिणामविनाशनात्, तथा महतोऽनुष्ठानस्य 'अल्पार्थनात्' तुच्छलब्ध्यादिप्रार्थनेन लघुत्वस्यापादनादिदं विषं ज्ञेयम् ॥ " दिव्यभोगाभिलाषेण, गरमाहुर्मनीषिणः । एतद्विहितनीत्यैव, कालान्तरनिपातनात् ॥३॥ " (१५७ श्लो.) 'एतद्' अनुष्ठानं ऐहिकभोगानिस्पृहस्य स्वर्गभोगस्पृहया गरमाहुः 'विहितनीत्यैव' विषोक्तनीत्यैव, केवलं कालान्तरे—भवान्तररूपे निपातनात्—अनर्थसम्पादनात् । विषं सद्य एव विनाशहेतुः, गरश्च कालान्तरेणेत्येवमुपन्यासः ॥ " अनाभोगवतश्चैतदननुष्ठानमुच्यते।सम्प्रमुग्धं मनोऽस्येति, ततश्चैतद्यथोदितम् ॥४॥ " (१५८ श्लो) 'अनाभोगवतः' कुत्रापि फलादावप्रणिहितमनसः 'एतद्' अनुष्ठानं 'अननुष्ठानं' अनुष्ठानमेव न भवतीत्यर्थः। सम् इति समन्ततः प्रकर्षेण मुग्धं सन्निपातोपहतस्येवानध्यवसायापन्नं मनोऽस्य, 'इतिः' पादसमाप्तौ । यत एवं ततो यथोदितं तथैव॥" एतद्रागादिदं हेतुः, श्रेष्ठो योगविदो विदुः। सदनुष्ठानभावस्य, शुभभावांशयोगतः ॥५॥ " (१५९ श्लो) 'एतद्रागात्' सदनुष्ठानबहुमानात् 'इदं' आदिधार्मिककालभावि देवपूजाद्यनुष्ठानं 'सदनुष्ठानभावस्य' तात्त्विकदेवपूजाद्याचारपरिणामस्य मुक्त्यद्वेषेण मनाग् मुक्त्यनुसारेण वा शुभभावलेशयोगात् 'श्रेष्ठः' अवन्ध्यो हेतुरिति योगविदो 'विदुः' जानते ॥ "जिनोदितमिति त्वाहुर्भावसारमदः पुनः । संवेगगर्भमत्यन्तममृतं

मुनिपुङ्गवाः ॥ ६ ॥" (१६० श्लो०) जिनोदितमित्येव 'भावसारं' श्रद्धाप्रधानं 'अदः' अनुष्ठानं 'संवेगगर्भं' मोक्षाभिलाषसहितं 'अत्यन्तं' अतीव अमरणहेतुत्वादमृत-संज्ञमाहुः 'मुनिपुङ्गवाः' गौतमादिमहामुनयः ॥ एतेषु त्रयं योगाभासत्वादहितम्, द्वयं तु सद्योगत्वाद्धितमिति तत्त्वम्। यत एवं स्थानादियत्नाभाववतोऽनुष्ठाने महादोषः 'तत्' तस्मात् 'अनुरूपाणामेव' योग्यानामेव 'एतद्विन्यासः' चैत्यवन्दन-सूत्रप्रदानरूपः कर्तव्यः ॥१२॥ क एतद्विन्यासानुरूपा इत्याकाङ्क्षायामाह—

जे देसविरइजुत्ता, जम्हा इह वोसिरामि कायं ति।
सुव्वइ विरईए इमं, ता सम्मं चिंतियव्व मिणं॥१३॥

'जे' इत्यादि। ये 'देशविरतियुक्ताः' पञ्चमगुण-स्थानपरिणतिमन्तः ते इह अनुरूपा इति शेषः। कुतः? इत्याह—यस्मात् 'इह' चैत्यवन्दनसूत्रे "व्युत्सृजामि कायम्" इति श्रूयते, इदं च विरतौ सत्यां संभवति, तदभावे काय-व्युत्सर्गासम्भवात्, तस्य गुप्तिरूपविरतिभेदत्वात्, ततः सम्य-क् चिन्तितव्यमेतत् यदुत "कायं व्युत्सृजामि" इति प्रति-ज्ञान्यथानुपपत्त्या देशविरतिपरिणामयुक्ता एव चैत्यवन्दना-नुष्ठानेऽधिकारिणः, तेषामेवागमपरतन्त्रतया विधियत्नसम्भ-वेनामृतानुष्ठानसिद्धेरिति। एतच्च मध्यमाधिकारिग्रहणं तुला-

दण्डन्योयनाद्यन्तग्रहणार्थम्, तेन परमामृतानुष्ठानपराः सर्वविरतास्तत्त्वत एव तद्धेत्वनुष्ठानपराः। अपुनर्बन्धका अपि च व्यवहारादिहाधिकारिणो गृह्यन्ते, कुग्रहविरहसम्पादनेनापुनर्बन्धकानामपि चैत्यवन्दनानुष्ठानस्य फलसम्पादकतायाः पञ्चाशकादिप्रसिद्धत्वादित्यवधेयम्। ये त्वपुनर्बन्धकादिभावमप्यस्पृशन्तो विधिबहुमानादिरहिता गतानुगतिकतयैव चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठानं कुर्वन्ति ते सर्वथाऽयोग्या एवेति व्यवस्थितम् ॥ १३ ॥ नन्वविधिनाऽपि चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठाने तीर्थप्रवृत्तिरव्यवच्छिन्ना स्यात्, विधेरेवान्वेषणे तु द्वित्राणामेव विधिपराणां लाभात् क्रमेण तीर्थोच्छेदः स्यादिति तदनुच्छेदायाविध्यनुष्ठानमप्यादरणीयमित्याशङ्कायामाह—

तित्थस्सुच्छेयाइ[२] वि, नालंबण जं ससमएमेव।
सुत्तकिरियाइ नासो, एसो असमंजसविहाणा॥१४॥

'तित्थस्स' इत्यादि। 'अत्र' अविध्यनुष्ठाने तीर्थोच्छेदाद्यपि नालम्बनी(नम्), तीर्थानुच्छेदायाविध्यनुष्ठानमपि कर्तव्यमिति नालम्बनीयम्। 'यद्' यस्मात् 'एवमेव' अविध्यनुष्ठाने क्रियमाण एव 'असमञ्जसविधानात्' विहितान्यथाकरणादशुद्धपारम्पर्यप्रवृत्त्या सूत्रक्रियाया विनाशः, स

---

१ श्रीहरिभद्रसूरिकृतः। २ "तित्थस्सुच्छेयाइ वि, एत्थं नालंबणं जमेसेव" इति भवेत्।

एष तीर्थोच्छेदः । नहि तीर्थनाम्ना जनसमुदाय एव तीर्थम्, आज्ञारहितस्य तस्यास्थिसङ्घातरूपत्वप्रतिपादनात्, किन्तु सूत्रविहितयथोचितक्रियाविशिष्टसाधुसाध्वीश्रावकश्राविकासमुदायः, तथा चाविधिकरणे सूत्रक्रियाविनाशात्परमार्थतस्तीर्थविनाश एवेति तीर्थोच्छेदालम्बनेनाविधिस्थापने लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायातेत्यर्थः ॥ १४ ॥ सूत्रक्रियाविनाशस्यैवाहितावहतां स्पष्टयन्नाह—

सो एस वंकओ च्चिय, न य सयमयमारियाणमविसेसो।
एयं पि भावियव्वं, इह तित्थुच्छेयभीरूहिं ॥ १५ ॥

'सो एस'त्ति । 'स एषः' सूत्रक्रियाविनाशः 'वक्र एव' तीर्थोच्छेदपर्यवसायितया दुरन्तदुःखफल एव । ननु शुद्धक्रियाया एव पक्षपाते क्रियमाणे शुद्धायास्तस्या अलाभादशुद्धायाश्चानङ्गीकारादानुश्रोतसिक्या वृत्त्याऽक्रियापरिणामस्य स्वत उपनिपातात्तीर्थोच्छेदः स्यादेव, यथाकथञ्चिदनुष्ठानावलम्बने च जैनक्रियाविशिष्टजनसमुदायरूपं तीर्थं न व्यवच्छिद्यते, न च कर्तुरविधिक्रियया गुरोरुपदेशकस्य कश्चिद्दोषः, अक्रियाकर्तुरिवाविधिक्रियाकर्तुस्तस्य स्वपरिणामाधीनप्रवृत्तिकत्वात्, केवलं क्रियाप्रवर्तनेन गुरोस्तीर्थव्यवहाररक्षणाद्गुण एवेत्याशङ्कायामाह—न च स्वयंमृतमारितयोरविशेषः, किन्तु विशेष एव, स्वयंमृते स्वदुष्टाशयस्यानिमित्तत्वात्

मारिते च मार्यमाणकर्मविपाकसमुपनिपातेऽपि स्वदुष्टाशयस्य निमित्तत्वात्, तद्वदिह स्वयमक्रियाप्रवृत्तं जीवमपेक्ष्य गुरोर्न दूषणम्, तदीयाविधिप्ररूपणमवलम्ब्य श्रोतुरविधिप्रवृत्तौ च तस्योन्मार्गप्रवर्तनपरिणामादवश्यं महादूषणमेव, तथा च श्रुतकेवलिनो वचनम्—" जह[1] सरणमुवगयाणं, जीवाण सिरो निकिंतए जो उ। एवं आयरिओ वि हु, उस्सुत्तं पएणवेंतो य ॥१॥" न केवलमविधिप्ररूपणे दोषः, किन्तु विधिप्ररूपणाभोगे[2]ऽविधिनिषेधासम्भवात् तदाशंसनानुमोदनापत्तेः फलतस्तत्प्रवर्तकत्वाद्दोष एव, तस्मात् " स्वयमेतेऽविधिप्रवृत्ता नात्रास्माकं दोषो वयं हि क्रियामेवोपदिशामो न त्वविधिम् " एतावन्मात्रमपुष्टालम्बनमवलम्ब्य नोदासितव्यं परहितनिरतेन धर्माचार्येण, किन्तु सर्वोद्यमेनाविधिनिषेधेन विधावेव श्रोतारः प्रवर्तनीयाः, एवं हि ते मार्गे प्रवेशिताः, अन्यथा तून्मार्गप्रवेशनेन नाशिताः। एतदपि भावितव्यमिह तीर्थोच्छेदभीरुभिः—विधिव्यवस्थापनेनैव ह्येकस्यापि जीवस्य सम्यग् बोधिलाभे चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकेऽमारिपटहवादनात्तीर्थोन्नतिः, अविधिस्थापने च विपर्ययात्तीर्थोच्छेद एवेति। यस्तु श्रोता विधिशास्त्रश्रवणकालेऽपि न संवेगभागी तस्य धर्मश्रावणेऽपि महादोष एव, तथा चोक्तं ग्रन्थकृतैव षोड-

---

१ "यथा शरणमुपगतानां जीवानां शिरो निकृन्तति यस्तु। एवमाचार्योऽपि खलूत्सूत्रं प्रज्ञापयंश्च ॥" २ 'अविधि'—इति स्यात्।

शके—"यः शृण्वन् सिद्धान्तं, विषयपिपासातिरेकतः पापः । प्राप्नोति न संवेगं, तदापि यः सोऽचिकित्स्य इति ॥ १ ॥ नैवंविधस्य शस्तं, मण्डल्युपवेशनप्रदानमपि । कुर्वन्नेतद्गुरुरपि, तदधिकदोषोऽवगन्तव्यः ॥ २ ॥" (षो० १०-१४-१५) मण्डल्युपवेशनं-सिद्धान्तदानेऽर्थमण्डल्युपवेशनम् । 'तदधिकदोषः' अयोग्यश्रोतुरधिकदोषः, पापकर्तुरपेक्षया तत्कारयितुर्महादोषत्वात् । तस्माद्विधिश्रवणरसिकं श्रोतारमुद्दिश्य विधिप्ररूपणेनैव गुरुस्तीर्थव्यवस्थापको भवति, विधिप्रवृत्त्यैव च तीर्थमव्यवच्छिन्नं भवतीति सिद्धम् ॥ १५ ॥ ननु किमेतावद्गूढार्थगवेषणया ?, यद्बहुभिर्जनैः क्रियते तदेव कर्तव्यं "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इति वचनात्, जीतव्यवहारस्यैवेदानीं बाहुल्येन प्रवृत्तेस्तस्यैवाऽऽतीर्थकालभावित्वेन तीर्थव्यवस्थापकत्वादित्याशङ्कायामाह—

मुत्तूण लोगसन्नं, उड्ढूण य साहुसमयसब्भावं ।
सम्मं पयट्टियव्वं, बुहेणमइनिउणबुद्धीए ॥ १६ ॥

'मुत्तूण' त्ति । मुक्त्वा ['लोकसंज्ञां'] "लोक एव प्रमाणं" इत्येवंरूपां शास्त्रनिरपेक्षां मतिं 'उड्ढूण य' त्ति वोढ्वा च 'साधुसमयसद्भावं' समीचीनसिद्धान्त [रहस्यं] 'सम्यग्' विधिनीत्या प्रवर्त्तितव्यं चैत्यवन्दनादौ 'बुधेन' पण्डितेन 'अतिनिपुणबुद्ध्या' अतिशयितसूक्ष्मभावानुधाविन्या मत्या ।

---

१ 'शृण्वन्नपि सिद्धान्तं' इत्यपि ।

साधुसमयसद्भावश्चायम्–" लोकमालम्ब्य कर्तव्यं, कृतं बहुभिरेव चेत्।तदा मिथ्यादृशां धर्मो, न त्याज्यः स्यात्कदाचन ॥ १ ॥ (ज्ञानसारे २३–४) स्तोका आर्या अनार्येभ्यः, स्तोका जैनाश्च तेष्वपि । सुश्रद्धास्तेष्वपि स्तोकाः, स्तोकास्तेष्वपि सत्क्रियाः ॥ २ ॥ श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांसो, लोके लोकोत्तरे च न । स्तोका हि रत्नवणिजः, स्तोकाश्च स्वात्मशोधकाः ॥ ३ ॥ (ज्ञानसारे २३–५) एकोऽपि शास्त्रनीत्या यो, वर्तते स महाजनः । किमज्ञसार्थैः ? शतमप्यन्धानां नैव पश्यति ॥ ४ ॥ यत्संविग्नजनाचीर्णं, श्रुतवाक्यैरबाधितम् । तज्जीतं व्यवहाराख्यं, पारम्पर्यविशुद्धिमत् ॥५॥ यदाचीर्णमसंविग्नैः, श्रुतार्थानवलम्बिभिः । न जीतं व्यवहारस्तदन्धसंततिसम्भवम् ॥ ६ ॥ आकल्पव्यवहारार्थं, श्रुतं न व्यवहारकम् । इतिवक्तुर्महत्तन्त्रे, प्रायश्चित्तं प्रदर्शितम् ॥ ७ ॥ तस्माच्छ्रुतानुसारेण, विध्येकरसिकैर्जनैः । संविग्नजीतमालम्ब्यमित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥ ८ ॥ " ननु यद्येवं सर्वादरेण विधिपक्षपातः क्रियते तदा " अविहिकया वरमकयं, असूयवयणं भणंति सव्वन्नू । पायच्छित्तं जम्हा, अकए गुरुयं कए लहुअं ॥ १ ॥ " इत्यादि वचनानां का गतिः ? इति चेत् , नैतानि वचनानि मूलत एवाविधिप्रवृत्तिविधायकानि, किन्तु विधिप्र-

---

१ " अविधिकृताद्वरमकृतं असूत्रवचनं भणन्ति सर्वज्ञाः । प्रायश्चित्तं यस्मादकृते गुरुकं कृते लघुकम् ॥ "

वृत्तावप्यनाभोगादिनाऽविधिदोषश्छद्मस्थस्य भवतीति तद्भिया न क्रियात्यागो विधेयः। प्रथमाभ्यासे तथाविधज्ञानाभावादन्यदापि वा प्रज्ञापनीयस्याविधिदोषो निरनुबन्ध इति तस्य तादृशानुष्ठानमपि न दोषाय, विधिबहुमानाद् गुर्वाज्ञायोगाच्च तस्य फलतो विधिरूपत्वादित्येतावन्मात्रप्रतिपादनपराणीति न कश्चिद्दोषः। अवोचाम चाध्यात्मसारप्रकरणे—" अशुद्धापि हि शुद्धायाः, क्रिया हेतुः सदाशयात्। ताम्रं रसानुवेधेन, स्वर्णत्वमुपगच्छति ॥ १ ॥" (२-१६ श्लो.) यस्तु विध्यबहुमानादविधिक्रियामासेवते तत्कर्तुरपेक्षया विधिव्यवस्थापनरसिकस्तदकर्ताऽपि भव्य एव, तदुक्तं योगदृष्टिसमुच्चये ग्रन्थकृतैव—" तात्त्विकः पक्षपातश्च, भावशून्या च या क्रिया। अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव ॥१॥" (२२१ श्लो०) इत्यादि। न चैवं तादृशषष्ठसप्तमगुणस्थानपरिणतिप्रयोज्यविधिव्यवहाराभावादस्मदादीनामिदानीन्तनमावश्यकाद्याचरणमकर्तव्यमेव प्रसक्तमिति शङ्कनीयम्, विकलानुष्ठानानामपि "जा जा हविज्ज जयणा, सा सा से णिज्जरा होइ।" इत्यादिवचनप्रामाण्यात् यत्किञ्चिद्विध्यनुष्ठानस्येच्छायोगसंपादकतदितरस्यापि बालाद्यनुग्रहसम्पादकत्वेनाकर्तव्यत्वासिद्धेः।

---

१ " मधिगच्छति " इत्यपि। २ " या या भवेद्यतना सा सा तस्य निर्जरा भवति "।

इच्छायोगवद्भिर्विकलानुष्ठायिभिर्गीतार्थैः सिद्धान्तविधिप्ररूपणे तु निर्भरो विधेयस्तस्यैव तेषां सकलकल्याणसम्पादकत्वात्, उक्तं च गच्छाचारप्रकीर्णके—"जइ वि ण सक्कं काउं, सम्मं जिणभासियं अणुट्ठाणं। तो सम्मं भासिज्जा, जह भणियं खीणरागेहिं ॥ १ ॥ ओसन्नो वि विहारे, कम्मं सोहेइ सुलभबोही य। चरणकरणं विसुद्धं, उववूहंतो परूविंतो ॥२॥"(गाथा ३२-३४) इति। ये तु गीतार्थाज्ञानिरपेक्षा विध्यभिमानिन इदानीन्तनव्यवहारमुत्सृजन्ति अन्यं च विशुद्धं व्यवहारं संपादयितुं न शक्नुवन्ति ते बीजमात्रमप्युच्छिन्दन्तो महादोषभाजो भवन्ति। विधिसम्पादकानां विधिव्यवस्थापकानां च दर्शनमपि प्रत्यूहव्यूहविनाशनमिति वयं वदामः ॥ १६ ॥ अथेमं प्रसक्तमर्थं संक्षिपन् प्रकृतं निगमयन्नाह—

कयमित्थ पसंगेणं, ठाणाइसु जत्तसंगयाणं तु।
हियमेयं विन्नेयं, सदणुट्ठाणत्तणेण तहा ॥१७॥

'कयमित्थ' त्ति। 'कृतं' पर्याप्तं 'अत्र प्रसङ्गेन' प्ररूपणीयमध्ये स्मृतार्थविस्तारणेन 'स्थानादिषु' प्रदर्शित-

---

१ "यद्यपि न शक्यं कर्तुं सम्यग्जिनभाषितमनुष्ठानम्। तत्सम्यग्भाषयेद्यथा भणितं क्षीणरागैः ॥ अवसन्नोऽपि विहारे शोधयति सुलभबोधिश्च। चरणकरणं विशुद्धमुपबृंहन् प्ररूप्रायश्चित्तं"

योगभेदेषु 'यत्नसंगतानां तु' प्रयत्नवतामेव 'एतत्' चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठानं 'हितं' मोक्षसाधकं विज्ञेयम्, चैत्यवन्दनगोचरस्थानादियोगस्य मोक्षहेतुत्वे तस्यापि तत्प्रयोजकत्वादिति भावः। 'तथा' इति प्रकारान्तरसमुच्चये। सदनुष्ठानत्वेन,योगपरिणामकृतपुण्यानुबन्धिपुण्यनिक्षेपाद्विशुद्धचित्तसंस्काररूपया प्रशान्तवाहितया सहितस्य चैत्यवन्दनादेः स्वातन्त्र्येणैव मोक्षहेतुत्वादिति भावः। प्रकारभेदोऽयं नयभेदकृत इति न कश्चिद्दोषः ॥ १७ ॥ सदनुष्ठानभेदानेव प्ररूपयंश्चरमतद्भेदे चरमयोगभेदमन्तर्भावयन्नाह—

एयं च पीइभत्तागमाणुगं तह असंगयाजुत्तं।
नेयं चउव्विहं खलु, एसो चरमो हवइ जोगो॥१८॥

'एयं च' त्ति। 'एतच्च' सदनुष्ठानं प्रीतिभक्त्यागमाननुगच्छति तत् प्रीतिभक्त्यागमानुगं—प्रीत्यनुष्ठानं भक्त्यनुष्ठानं वचनानुष्ठानं चेति त्रिभेदं तथाऽसंगतया युक्तं असंगानुष्ठानमित्येवं चतुर्विधं ज्ञेयम्। एतेषां भेदानामिदं स्वरूपम्—यत्रानुष्ठाने प्रयत्नातिशयोऽस्ति परमा च प्रीतिरुत्पद्यते शेषत्यागेन च यत्क्रियते तत्प्रीत्यनुष्ठानम्, आह च—
"यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः।
शेषत्यागेन करोति यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ १ ॥" (षो० १०–३) एतत्तुल्यमप्यालम्बनीयस्य पूज्यत्वविशेषबुद्ध्या

विशुद्धतरव्यापारं भक्त्यनुष्ठानम्, आह च—गौरवविशेषयोगाद्बुद्धिमतो यद्विशुद्धतरयोगम्। क्रिययेतरतुल्यमपि, ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम् ॥ २ ॥" (षो० १०–४) प्रीतित्वभक्तित्वे संतोष्यपूज्यकृत्यकर्तव्यताज्ञानजनितहर्षगतौ जातिविशेषौ, आह च—"अत्यन्तवल्लभा खलु, पत्नी तद्वद्धिता च जननीति। तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातं स्यात्प्रीतिभक्तिगतम् ॥ ३ ॥" (षो० १०–५) 'तुल्यमपि कृत्यं' भोजनाच्छादनादि 'ज्ञातं' उदाहरणम्। शास्त्रार्थप्रतिसंधानपूर्वा साधोः सर्वत्रोचितप्रवृत्तिर्वचनानुष्ठानम्, आह च—"वचनात्मिका प्रवृत्तिः, सर्वत्रौचित्ययोगतो या तु। वचनानुष्ठानमिदं, चारित्रवतो नियोगेन ॥ ४ ॥" (षो० १०–६) व्यवहारकाले वचनप्रतिसंधाननिरपेक्षं दृढतरसंस्काराच्चन्दनगन्धन्यायेनात्मसाद्भूतं जिनकल्पिकादीनां क्रियासेवनमसङ्गानुष्ठानम्, आह च—"यत्त्वभ्यासातिशयात्, सात्मीभूतमिव चेष्ट्यते सद्भिः। तदसङ्गानुष्ठानं, भवति त्वेतत्तदावेधात् ॥ ५ ॥" (षो० १०–७) 'तदावेधात्' वचनसंस्कारात्, यथाऽऽद्यं चक्रभ्रमणं दण्डव्यापारादुत्तरं च तज्जनितकेवलसंस्कारादेव, तथा भिक्षाटनादिविषयं वचनानुष्ठानं वचनव्यापाराद् असङ्गानुष्ठानं च केवलतज्जनितसंस्कारादिति विशेषः, आह च—"चक्रभ्रमणं दण्डात्तदभावे चैव यत्परं भवति। वचनासङ्गानुष्ठानयोस्तु तज्ज्ञापकं ज्ञेयम् ॥ ६ ॥" (षो०

१०-८) इति ॥ 'खलु' इति निश्चये। एतेष्वनुष्ठानभेदेषु 'एषः' एतदः समीपतरवृत्ति (वर्त्ति)वाचकत्वात्समीपाभिहिताऽसङ्गानुष्ठानात्मा चरमो योगोऽनालम्बनयोगो भवति, सङ्गत्यागस्यैवानालम्बनलक्षणत्वादिति भावः ॥ १८ ॥ आलम्बनविधयैवानालम्बनस्वरूपमुपदर्शयन्नाह—

आलंबणं पि एयं, रूवमरूवी य इत्थ परमु त्ति।
तग्गुणपरिणइरूवो, सुहुमोऽणालंबणो नाम ॥१९॥

'आलंबणं पि' त्ति। आलम्बनमपि 'एतत्' प्राकरणिकबुद्धिसंनिहितं 'अत्र' योगविचारे 'रूपि' समवसरणस्थजिनरूपतत्प्रतिमादिलक्षणम्, 'च' पुनः 'अरूपी परमः' सिद्धात्मा इत्येवं द्विविधम्। तत्र तस्य-अरूपिपरमात्मलक्षणस्यालम्बनस्य ये गुणाः-केवलज्ञानादयस्तेषां परिणतिः-समापत्तिलक्षणा तया रूप्यत इति तद्गुणपरिणतिरूपः सूक्ष्मोऽतीन्द्रियविषयत्वादनालम्बनो नाम योगः, अरूप्यालम्बनस्येपदालम्बनत्वेन "अलवणा यवागूः" इत्यत्रेवात्र नञ्पदप्रवृत्तेरविरोधात्। "सुहुमो आलंबणो नाम" त्ति क्वचित्पाठस्तत्रापि सूक्ष्मालम्बनो नामैष योगस्ततोऽनालम्बन एवेति भाव उन्नेयः, उक्तं चात्राधिकारे चतुर्दशषोडशके

१ "सुहुमो आलंबणो" इति पाठान्तरम्।

ग्रन्थकृतैव—" सालम्बनो निरालम्बनश्च योगः परो द्विधा ज्ञेयः। जिनरूपध्यानं खल्वाद्यस्तत्तत्त्वगस्त्वपरः ॥ १ ॥" (१४-१) सहालम्बनेन—चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रतिमादिना वर्तत इति सालम्बनः। आलम्बनात्-विषयभावापत्तिरूपा-न्निष्क्रान्तो निरालम्बनः, यो हि छद्मस्थेन ध्यायते न च स्वरूपेण दृश्यते तद्विषयो निरालम्बन इति यावत्। जिनरू-पस्य—समवसरणस्थस्य ध्यानं खलु 'आद्यः' सालम्बनो योगः। तस्यैव—जिनस्य तत्त्वं—केवलजीवप्रदेशसङ्घातरूपं के-वलज्ञानादिस्वभावं तस्मिन् गच्छतीति तत्तत्त्वगः, 'तुः' एवार्थे, 'अपरः' अनालम्बनः, अत्रारूपितत्त्वस्य स्फुटविष-यत्वाभावादनालम्बनत्वमुक्तम्। अधिकृतग्रन्थगाथायां च विषयतामात्रेण तस्यालम्बनत्वमनूद्यापि तद्विषययोगस्येपदा-लम्बनत्वादनालम्बनत्वमेव प्रासाधीति फलतो न कश्चिद्विशेष इति स्मर्तव्यम्। अयं चानालम्बनयोगः " शास्त्रसंदर्शितो-पायस्तदतिक्रान्तगोचरः। शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण, सामर्थ्याख्यो-यमुत्तमः ॥ १ ॥" (योग० समु० ३ श्लोक) इति श्लो-कोक्तस्वरूपक्षपकश्रेणीद्वितीयापूर्वकरणभाविक्षायोपशमिकक्षा-न्त्यादिधर्मसन्न्यासरूपसामर्थ्ययोगतो निस्सङ्गानवरतप्रवृत्ता या परतत्त्वदर्शनेच्छा तल्लक्षणो मन्तव्यः, आह च—"साम-र्थ्ययोगतो या, तत्र दिदृक्षेत्यसङ्गशक्त्याढ्या। साऽनालम्ब-

नयोगः, प्रोक्तस्तंददर्शनं यावत् ॥ १ ॥" (यो० १५-८) 'तत्र' परतत्त्वे द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा 'इति' एवंस्वरूपा असङ्गशक्त्या-निरभिष्वङ्गाविच्छिन्नप्रवृत्त्या आढ्या-पूर्णा 'सा' परमात्मदर्शनेच्छा अनालम्बनयोगः, परतत्त्वस्यादर्शनं-अनुपलम्भं यावत्, परमात्मस्वरूपदर्शने तु केवलज्ञानेनानालम्बनयोगो न भवति, तस्य तदालम्बनत्वात् । अलब्धपरतत्त्वस्तल्लाभाय ध्यानरूपेण प्रवृत्तो ह्यनालम्बनयोगः, स च क्षपकेण धनुर्धरेण क्षपकश्रेण्याख्यधनुर्दण्डे लक्ष्यपरतत्त्वाभिमुखं तद्वेधाविसंवादितया व्यापारितो यो बाणस्तत्स्थानीयः, यावत्तस्य न मोचनं तावदनालम्बनयोगव्यापारः, यदा तु ध्यानान्तरिकाख्यं तन्मोचनं तदाऽविसंवादितत्पतनमात्रादेव लक्ष्यवेध इतीषुपातकल्पः सालम्बनः केवलज्ञानप्रकाश एव भवति, न त्वनालम्बनयोगो (ग) व्यापारः, फलस्य सिद्धत्वादिति निर्गलितार्थः । आह च—" तत्राप्रतिष्ठितोऽयं, यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्तत्र । सर्वोत्तमानुजः खलु, तेनानालम्बनो गीतः ॥ १ ॥ द्रागस्मात्तद्दर्शनामिषुपातज्ञातमात्रतो ज्ञेयम् । एतच्च केवलं तत्, ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः ॥ २ ॥" (यो० १५-९, १०) 'तत्र' परतत्त्वे 'अप्रतिष्ठितः'

---

१ " प्रोक्तस्तद्दर्शनं यावत् " इति पाठानुसारेण यशोभद्रसूरिणा व्याख्याकृता । तथाहि—" प्रोक्तस्तत्त्ववेदिभिः तस्य—परतत्त्वस्य दर्शनमुपलम्भस्तद्यावत् " इति ।

अलब्धप्रतिष्ठः सर्वोत्तमस्य योगस्य—अयोगाख्यस्य अनुजः—पृष्ठभावी ॥ ' तद्दर्शनं ' परतत्त्वदर्शनं ' एतच्च ' परतत्त्वदर्शनं ' केवलं ' सम्पूर्णं ' तत् ' प्रसिद्धं यत् तत् केवलज्ञानं ' परं ' प्रकृष्टं ज्योतिः स्यात् ॥ अत्र कस्यचिदाशङ्का—इषुपातज्ञातात्परतत्त्वदर्शने सति केवलज्ञानोत्तरमनालम्बनयोगप्रवृत्तिर्मा भूत्, सालम्बनयोगप्रवृत्तिस्तु विशिष्टतरा काचित्स्यादेव, केवलज्ञानस्य लब्धत्वेऽपि मोक्षस्याद्यापि योजनीयत्वात्, मैवम्, केवलिनः स्वात्मनि मोक्षस्य योजनीयत्वेऽपि ज्ञानाकाङ्क्षया अविषयतया ध्यानानालम्बनत्वात्क्षपकश्रेणिकालसम्भविविशिष्टतरयोगप्रयत्नाभावादावर्जीकरणोत्तरयोगनिरोधप्रयत्नाभावाच्चार्वाक्तनकेवलिव्यापारस्य ध्यानरूपत्वाभावादुक्तान्यतरयोगपरिणतेरेव ध्यानलक्षणत्वात् । आह च महाभाष्यकारः—" सुदढप्पयत्तवावारणं णिरोहो व विज्जमाणाणं । झाणं करणाण मयं, ण उ चित्तणिरोहमित्तागं ॥१॥ "[1] (विशेषावश्यक—गाथा ३०७१) इति । स्यादेतद्, यदि क्षपकश्रेणिद्वितीयापूर्वकरणभावी सामर्थ्ययोग एवानालम्बनयोगो ग्रन्थकृताऽभिहितस्तदा तदप्राप्तिमतामप्रमत्तगुणस्थानानामुपरतसकलविकल्पकल्लोलमालानां चिन्मात्रप्रतिबन्धोपलब्धरत्नत्रयसाम्राज्यानां जिनकल्पिकादीनामपि निरालम्बनध्यानमसं-

---

१ " सुदृढप्रयत्नव्यापारणं निरोधो वा विद्यमानानाम् । ध्यानं करणानां मतं न तु चित्तनिरोधमात्रम् ॥ "

गताभिधानं स्यादिति, मैवम्, यद्यपि तत्त्वतः परतत्त्वलक्ष्यवेधाभिमुखस्तदविसंवादी सामर्थ्ययोग एव निरालम्बनस्तथापि परतत्त्वलक्ष्यवेधप्रगुणतापरिणतिमात्रादर्वाक्तनं परमात्मगुणध्यानमपि मुख्यनिरालम्बनप्रापकत्वादेकध्येयाकारपरिणतिशक्तियोगाच्च निरालम्बनमेव । अत एवावस्थात्रयभावने रूपातीतसिद्धगुणप्रणिधानवेलायामप्रमत्तानां शुक्लध्यानांशो निरालम्बनोऽनुभवसिद्ध एव । संसार्यात्मनोऽपि च व्यवहारनयसिद्धमौपाधिकं रूपमाच्छाद्य शुद्धनिश्चयनयपरिकल्पितसहजात्मगुणविभावने निरालम्बनध्यानं दुरपह्नवमेव, परमात्मतुल्यतयाऽऽत्मज्ञानस्यैव निरालम्बनध्यानांशत्वात् तस्यैव च मोहनाशकत्वात् । आह च—"जो जाणइ अरिहंते, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं । सो जाणइ अप्पाणं, मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥ १ ॥" इति । तस्माद्रूपिद्रव्यविषयं ध्यानं सालम्बनं अरूपिविषयं च निरालम्बनमिति स्थितम् ॥ १९ ॥

अथ निरालम्बनध्यानस्यैव फलपरम्परामाह—

एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव ।
तत्तो अजोगजोगो, कमेण परमं च निव्वाणं ॥२०॥

---

१ "यो जानात्यर्हतो द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वैः । स जानात्यात्मानं मोहः खलु तस्य याति लयम् ॥"

'एयम्मि' त्ति । 'एतस्मिन्' निरालम्बनध्याने लब्धे मोहसागरस्य–दुरन्तरागादिभावसंतानसमुद्रस्य तरणं भवति । ततश्च 'श्रेणिः' क्षपकश्रेणिर्निर्व्यूढा भवति, सा ह्यध्यात्मादियोगप्रकर्षगर्भिताशयविशेषरूपा । एष एव सम्प्रज्ञातः[1] समाधिस्तीर्थान्तरीयैर्गीयते, एतदपि सम्यग्–यथावत् प्रकर्षेण–सवितर्कनिश्चयात्मकत्वेनात्मपर्यायाणामर्थानां च द्वीपादीनामिह ज्ञायमानत्वादर्थतो नानुपपन्नम् । ततश्च 'केवलमेव' केवलज्ञानमेव भवति । अयं चासम्प्रज्ञातः[2] समाधिरिति परैर्गीयते, तत्रापि अर्थतो नानुपपत्तिः, केवलज्ञानेऽशेषवृत्त्यादिनिरोधाल्लब्धात्मस्वभावस्य मानसविज्ञानवैकल्यादसम्प्रज्ञातत्वसिद्धेः । अयं चासंप्रज्ञातः समाधिर्द्विधा–सयोगिकेवलिभावी अयोगिकेवलिभावी च, आद्यो मनोवृत्तीनां विकल्पज्ञानरूपाणामत्यन्तोच्छेदात्सम्पद्यते । अन्त्यश्च परिस्पन्दरूपाणाम्, अयं च केवलज्ञानस्य फलभूतः । एतदेवाह—'ततश्च' केवलज्ञानलाभादनन्तरं च 'अयोगयोगः' वृत्तिबीजदाहायो-

---

१ "वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः ।" (पातं० योग० १–१७) । २ "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" (पातं० १–१८) "यदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञातः ॥" इति १–१८ सूत्रभाष्ये व्यासर्षिः ।

गाख्यः समाधिर्भवति, अयं च "धर्ममेघः[1]" इति पातञ्जलैर्गीयते, "अमृतात्मा" इत्यन्यैः, "भवशत्रुः" इत्यपरैः, "शिवोदयः" इत्यन्यैः, "सत्त्वानन्दः" इत्येकैः, "परश्च" इत्यपरैः। 'क्रमेण' उपदर्शितपारम्पर्येण ततोऽयोगयोगात् 'परमं' सर्वोत्कृष्टफलं निर्वाणं भवति ॥ २० ॥

॥ इति महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्य-
पण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनय-
विजयगणिचरणकमलचञ्चरीकपण्डितश्रीपद्म-
विजयगणिसहोदरोपाध्यायश्रीजसविजय-
गणिसमर्थितायां विंशिका प्रकरण-
व्याख्यायां योगविंशिका-
विवरणं सम्पूर्णम् ॥

---

१ "तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति" इति पातं० यो० १-२ भाष्ये व्यासर्षिः ॥

उपाध्यायजी श्रीयशोविजयजी कृत-

योगवृत्तिका सार.

प्रथम पाद ।

सूत्र २—सूत्रकारने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात ऐसे दो योग-जैसा कि पा० १ सू० १७-१८-४६-५१ में कहा है-मानकर उनका 'चित्तवृत्तिनिरोध' ऐसा लक्षण किया है। इस लक्षणमें उन्होंने 'सर्व' शब्दका ग्रहण इस लिए नहीं किया है कि यह लक्षण उभययोग साधारण है। सम्प्रज्ञात योगमें कुछ चित्तवृत्तियाँ होती भी हैं पर असम्प्रज्ञातमें सब रुक जाती हैं। अगर 'सर्वचित्तवृत्तिनिरोध' ऐसा लक्षण किया जाता तो असम्प्रज्ञात ही योग कहलाता, सम्प्रज्ञात नहीं। जब कि 'चित्तवृत्तिनिरोध' इतना लक्षण किया है तब तो कुछ चित्तवृत्तियोंका निरोध और सकल चित्तवृत्तियोंका निरोध ऐसा अर्थ निकलता है जो क्रमशः उक्त दोनों योगमें घट जाता है।

सूत्रकारका उपर्युक्त आशय जो भाष्यकारने नीकाला है उसको लक्ष्यमें रखकर उपाध्यायजी कहते हैं कि-सर्व-शब्दका अध्याहार न किया जाय या किया जाय, उभय-पक्षमें सूत्रगत लक्षण अपूर्ण है। क्योंकि अध्याहार न

करनेमें संप्रज्ञात योगका तो संग्रह हो जाता है पर विक्षिप्त अवस्था जो सूत्रकारको योगरूपसे इष्ट नहीं है और जिसमें कितनीक चित्तवृत्तियोंका निरोध अवश्य पाया जाता है उसमें अतिव्याप्ति होगी। यदि उक्त अतिव्याप्तिके निरासके लिये अध्याहार किया जाय तो सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति होगी, क्योंकि उसमें सब चित्तवृत्तियाँ नहीं रुक जातीं। इस तरह 'सर्व' शब्दका अध्याहार करनेमें या न करनेमें दोनों तरफ रज्जुपाश होनेसे 'क्लिष्ट' पदका अध्याहार करके "योगः क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधः" इतना लक्षण फलित करना चाहिए, जिससे न तो विक्षिप्त अवस्थामें अतिव्याप्ति होगी और न सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति। यह तो हुई सूत्रको ही संगत करनेकी बात, पर श्रीहरिभद्र जैसे आचार्यकी सम्मति बतलाकर उपाध्यायजी जैन शैलीके अनुसार योगका लक्षण इस प्रकार करते हैं-" जो धर्मव्यापार-अर्थात् स्वभावोन्मुख या चेतनाभिमुख क्रिया-समितिगुप्ति स्वरूप है वही योग है; क्योंकि उसीसे मोक्षलाभ होता है।"

सूत्र ११—पाद १ सूत्र ६ से ११ तकमें निरोध करने योग्य पाँच वृत्तियोंका निरूपण है। इसपर उपाध्यायजीका कहना यह है कि-सूत्रकारने वृत्तियोंके जो पाँच भेद किये हैं सो तात्त्विक नहीं किन्तु उनकी रुचिका परिणाममात्र है। क्यों कि विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पीछली तीनों वृत्तियाँ यथार्थ तथा अयथार्थ उभयरूप देखी जाती हैं, इस-

लिये उनका समावेश प्रमाण और विपर्यय (अप्रमाण) इन दो वृत्तियोंमें ही हो जाता है। अतएव वृत्तिके दो ही विभाग करने चाहिये। यदि किसी न किसी विशेषताको लेकर अधिक विभाग करना हो तो फिर पाँच ही क्यों? क्षयोपशम-(योग्यता) की विविधताके कारण असंख्यात विभाग किये जा सकते हैं।

विषयके न होते हुए भी जो बोध सिर्फ शब्दज्ञानके बलसे होता है वह विकल्प है। जैसे 'आकाशपुष्प' ऐसा कहनेसे एक प्रकारका भास हो ही जाता है। इसी तरह 'चैतन्य यह आत्माका स्वरूप है' ऐसा सुननेसे भी भास होता है। यह दोनों प्रकारका भास विकल्प है। पहले प्रकारका विकल्प विपर्यय-कोटिमें सम्मिलित करना चाहिये, क्योंकि 'आकाशपुष्प' यह व्यवहार प्रामाणिक-सम्मत नहीं है। दूसरे प्रकारका विकल्प जिसमें भेदबोधक षष्ठीविभक्तिके बलसे आत्मा और चैतन्यका भेद भासित होता है वह नय अर्थात् प्रमाणांशरूप है। क्योंकि ऐसे विकल्पका व्यवहार शास्त्रीय व प्रामाणिक-सम्मत है। प्रमाणांश कहनेका मतलब यह है कि व्यवहर्त्ताकी दृष्टि कभी भेदप्रधान और कभी अभेद-प्रधान होती है। दोनों दृष्टियोंको मिलानेसे ही प्रमाण होता है। दृष्टिको अपेक्षा या नय कहते हैं। वस्तुतः आत्मा चैतन्यस्वरूप है, पर उसके अनेक स्वरूपोंमेंसे जब चैतन्यस्व-

रूपका कथन करना हो तब भेददृष्टिको प्रधान रखकर प्रामाणिक लोक भी ऐसा बोलते हैं कि चैतन्य यह आत्माका स्वरूप है। इस कथनसे यह सिद्ध है कि जो जो 'आकाशपुष्प' आदि विकल्प अशास्त्रीय है वह सब विपर्ययरूप हैं। और 'चैतन्य यह पुरुषका स्वरूप है' इत्यादि जो जो विकल्प शास्त्रप्रसिद्ध है वह सब नयरूप होनेसे प्रमाणके एक देशरूप हैं।

निद्रावृत्ति एकान्त अभाव विषयक नहीं होती। उसमें हाथी घोडे आदि अनेक भावोंका भी कभी कभी भास होता है, अर्थात् स्वप्न अवस्था भी एक तरहकी निद्रा ही है। इसी तरह वह सच भी होती है। यह देखा गया है कि अनेक वार जागरित अवस्थामें जैसा अनुभव हुआ हो निद्रामें भी वैसा ही भास होता है, और कभी कभी निद्रामें जो अनुभव हुआ हो वही जागनेके बाद अक्षरशः सत्य सिद्ध होता है।

स्मृति भी यथार्थ अयथार्थ दोनों प्रकारकी होती है। अतएव विकल्प आदि तीन वृत्तियोंको प्रमाण विपर्ययसे अलग कहनेकी खास आवश्यकता नहीं है।

सूत्र १६—सूत्रकारने योगके उपायभूत वैराग्यके अपर और पर ऐसे दो भेद किये हैं, उनको जैन परिभाषामें उतारकर उपाध्यायजी खुलासा करते हैं कि—पहला वैराग्य 'आपातधर्मसंन्यास' नामक है, जो विषयगत दोषोंकी भावनासे शुरू शुरूमें पैदा होता है। दूसरा वैराग्य 'तात्त्विकधर्मसंन्यास'

नामक है, जो स्वरूपचिंतासे होनेवाली विषयोंकी उदासीनतासे उत्पन्न होता है। जिसका संभव आठवें गुणस्थानमें है, और जिसमें सम्यक्त्व चारित्र आदि धर्म क्षायोपशमिक अवस्था-अपूर्णता-को छोडकर क्षायिकभाव-पूर्णता-को प्राप्त करते हैं।

सूत्र १८—सूत्रकारने संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात ये दो योग कहे हैं। जैन प्रक्रियाके साथ मिलान करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय इन पाँच भेदोंमें जो पाँचवाँ भेद वृत्तिसंक्षय है उसीमें उक्त दोनों योगका समावेश हो जाता है। आत्माकी स्थूल सूक्ष्म चेष्टायें तथा उनका कारण जो कर्मसंयोगकी योग्यता है, उसके ह्रास-क्रमशः हानि-को वृत्तिसंक्षय कहते हैं। यह वृत्तिसंक्षय ग्रंथिभेदसे होनेवाले उत्कृष्टमोहनीयकर्मबंधसंबंधी व्यवच्छेदसे शुरू होता है, और तेरहवें गुणस्थानमें परिपूर्ण हो जाता है। इसमें भी आठवेंसे बारहवें गुणस्थानतकमें पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कअविचार नामक जो शुक्लध्यानके दो भेद पाये जाते हैं उनमें संप्रज्ञात योगका अंतर्भाव है। संप्रज्ञात भी जो निर्वितर्कविचारानन्दास्मितानिर्भासरूप है वह पर्यायरहितशुद्धद्रव्यविषयक शुक्लध्यानमें अर्थात् एकत्ववितर्कअविचारमें अन्तर्भूत है। असंप्रज्ञात योग केवलज्ञानकी प्राप्तिसे अर्थात् तेरहवें गुणस्थान-

कसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतकमें आजाता है। इन दो गुणस्थानोंमें जो भवोपग्राही अर्थात् अघातिकर्मका संबन्ध रहता है वही संस्कार है। और उसीकी अपेक्षासे असंप्रज्ञा-तको संस्कारशेष समझना चाहिये, क्योंकि उस अवस्थामें मतिज्ञानविशेषरूप संस्कारका संभव नहीं है अर्थात् उस समय द्रव्यमन होनेपर भी भावमन नहीं होता।

सूत्र १६—सूत्रकारने विदेह और प्रकृतिलयोंमें जो भवप्रत्यय (जन्मसिद्ध) योगका पाया जाना कहा है उसकी संगति जैनमतके अनुसार लवसप्तम देवों—अनुत्तर विमान-वासी—में करनी चाहिये, क्योंकि उन देवोंको जन्मसे ही ज्ञानयोगरूप समाधि होती है।

सूत्र २६—सूत्र २४, २५, २६ में ईश्वरका स्वरूप है। भाष्यकार और टीकाकारने ईश्वरके स्वरूपके विषयमें सूत्र-कारका मंतव्य दिखलाते हुए मुख्यतया उसके छह धर्म बतलाये हैं। जैसे—१ केवल सत्त्वगुणका प्रकर्ष, २ जगत्क-र्तृत्व, ३ एकत्व, ४ अनादिशुद्धता—नित्यमुक्तता, ५ अनुग्र-हेच्छा और ६ सर्वज्ञत्व।

उपाध्यायजी उक्त धर्मोंमेंसे (क) पहले दो धर्मोंको अर्थात् केवलसत्त्वगुणप्रकर्ष और जगत्कर्तृत्वको जैनदृष्टिसे ईश्वरमें अस्वीकार ही करते हैं, (ख) तीन धर्मोंका अर्थात् एकत्व, अनादिशुद्धता और अनुग्रहेच्छाका कथंचित् समन्वय

करते हैं, और (ग) एकधर्मका अर्थात् सर्वज्ञपनका सर्वथा स्वीकार करते हैं।

(क) सत्त्वगुण जो जड प्रकृतिका अंश है वह तथा जगत्कर्तृत्व इन दो धर्मोंका सम्बन्ध ईश्वरमें युक्तिसंगत न होनेसे जैनदर्शनको मान्य नहीं है।

(ख) एकत्व शब्दके संख्या और सादृश्य ये दो अर्थ होते हैं। जैनशास्त्र ईश्वरकी एक संख्या नहीं मानता, वह सभी मुक्त आत्माओंको ईश्वर मानता है। अतएव उसके अनुसार ईश्वरमें एकत्वका मतलब सदृशतासे है। जब ईश्वर कोई एक ही व्यक्ति नहीं है तब जैनप्रक्रियाके अनुसार यह भी सिद्ध है कि अनादिशुद्धता मुक्तजीवोंके प्रवाहमें ही घट सकती है, एक व्यक्तिमात्रमें नहीं। अनुग्रहकी इच्छा जो रागरूप होनेसे द्वेष सहचरित होनी चाहिये उसका तो ईश्वरमें सम्भव ही नहीं हो सकता, अतएव जैनशास्त्र कहता है कि ईश्वरोपासनाके निमित्तसे योगी जो सदाचार लाभ करता है वही ईश्वरका अनुग्रह समझना चाहिये।

ईश्वरमें सर्वज्ञत्व जैनशास्त्रको वैसा ही मान्य है जैसा कि योगदर्शनको, पर जैनमतकी विशेषता यह है कि सर्वज्ञत्व दोषोंके नाशसे उत्पन्न होता है। अतएव वह नित्यमुक्तताका साधक नहीं हो सकता।

सूत्र २३—उपाध्यायजी कहते हैं कि-जैनशास्त्र भी

मैत्री आदि चार भावनाओंको चित्तशुद्धिका उपाय मानता है, और मैत्रीका अर्थ उसमें विशाल है। सूत्रमें सुखी प्राणिको ही मैत्रीभावनाका विषय बतलाया है, पर जैनाचार्य प्राणिमात्रको मैत्रीका विषय बतलाते हैं। इसके सिवाय उपाध्यायजीने षोडशकप्रकरणके चतुर्थ और तेरहवें षोडशकके अनुसार चारों भावनाओंके भेद और उनका स्वरूप भी बतलाया है।

सूत्र ३४—जैनशास्त्र प्राणायामको चित्तशुद्धिका पुष्ट साधन नहीं मानता, क्योंकि उसको हठपूर्वक करनेसे मन स्थिर होनेके बदले व्याकुल हो जाता है।

सूत्र ४६—चित्तका ध्येयविषयके समानाकार बन जाना उसकी समापत्ति है। जब ध्येय स्थूल हो तब सवितर्क, निर्वितर्क और ध्येय सूक्ष्म हो तब सविचार, निर्विचार; इस तरह समापत्तिके चार भेद हैं, जो सभी सबीज ही हैं और संप्रज्ञात कहलाते हैं। जैनशास्त्रमें समापत्तिका मतलब उन भावनाओंसे है जो भावनायें चित्तमें एकाग्रता उत्पन्न करती हैं और जिनका अनुभव शुक्लध्यानवाले ही आत्मा करते हैं। पर्यायसहित स्थूल द्रव्यकी भावना सवितर्क समापत्ति, पर्यायरहित स्थूल द्रव्यकी भावना निर्वितर्क समापत्ति, पर्यायसहित सूक्ष्म द्रव्यकी भावना सविचार समापत्ति, और पर्यायरहित सूक्ष्म द्रव्यकी भावना निर्विचार समापत्ति है।

इन भावनाओंको मोहकी उपशम दशामें अर्थात् उपशम-श्रेणिमें सम्प्रज्ञात समाधिकी तरह सबीज और मोहकी चीण अवस्थामें अर्थात् चपकश्रेणिमें असम्प्रज्ञात समाधिकी तरह निर्बीज घटा लेना चाहिये।

सूत्र ४६—जैनप्रक्रियाके अनुसार ऋतंभराप्रज्ञाका समन्वय इस प्रकार है—जो समाधिप्रज्ञा दूसरे अपूर्वकरण अर्थात् आठवें गुणस्थानमें होनेवाले सामर्थ्ययोगके बलसे प्रकट होती है, और जो शास्त्रके द्वारा प्रतिपादन नहीं किये जा सकनेवाले अतीन्द्रिय विषयोंको अवगाहन करती है, अतएव जो प्रज्ञा न तो केवलज्ञानरूप है और न श्रुतज्ञान-रूप; किन्तु जैसे रातके खतम होते समय और सूर्योदयके पहले अरुणोदयरूप संध्या रात और दिन दोनोंसे अलग पर दोनोंकी माध्यमिक स्थितिरूप है, वैसे ही जो प्रज्ञा श्रुतज्ञानके अंतमें और केवलज्ञानके पहले प्रकट होनेके कारण दोनोंकी मध्यम दशा रूप है, जिसका दूसरा नाम अनुभव है, उसीको ऋतम्भराप्रज्ञा समझना चाहिये।

द्वितीय पाद।

सूत्र १—जैसे भाष्यमें चित्तकी प्रसन्नताको बाधित नहीं करनेवाला ही तप योगमार्गमें उपयोगी कहा गया है, वैसे

ही जैनशास्त्र भी अत्यन्त दुष्कर ऐसे बाह्य तप करनेकी सम्मति वहांतक ही देता है, जहांतक कि आभ्यन्तर तप अर्थात् कषायमन्दताकी वृद्धि हो, और ध्यानकी पुष्टि हो।

जैनशास्त्रके अनुसार ईश्वरप्रणिधानका मतलब यह है कि प्रत्येक अनुष्ठान करते समय शास्त्रको दृष्टिसम्मुख रख करके तद्द्वारा उसके आदि उपदेशक वीतराग प्रभुको हृदयमें स्थान देना।

सूत्र ४—अस्मिता आदि चारों क्लेशोंकी जड अविद्या है, और चारों क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इस प्रकारकी चार चार अवस्थावाले हैं। इस विषयका समन्वय जैनपरिभाषामें इस प्रकार है–अविद्यादि पाँचों क्लेश मोहनीयकर्मके औदयिकभाव–विशेषरूप हैं। अबाधाकाल पूर्ण न होनेके कारण जबतक कर्मदलिकका निषेक (रचनाविशेष) न हो तबतककी कर्मावस्थाको प्रसुप्तावस्था समझना चाहिये। कर्मका उपशम और क्षयोपशम भाव उसकी तनुत्व अवस्था है। अपनी विरोधी प्रकृतिके उदयादि कारणोंसे किसी कर्मप्रकृतिका उदय रुक जाना वह उसकी विच्छिन्न अवस्था है। उदयावलिकाको प्राप्त होना कर्मकी उदार अवस्था है।

सूत्र ६—सूत्रकारने सूत्र ५ से ६ तकमें पाँच क्लेशोंके लक्षण कहे हुए हैं उनका जैनप्रक्रियाके अनुसार समन्वय इस प्रकार है—

अविद्याको जैनशास्त्रमें मिथ्यात्व कहते हैं। स्थानाङ्गसूत्रमें मिथ्यात्वके दस भेद दिखाये हैं। जैसे—अधर्ममें धर्म, धर्ममें अधर्म, अमार्गमें मार्ग, मार्गमें अमार्ग, असाधुमें साधु, साधुमें असाधु, अजीवमें जीव, जीवमें अजीव, और अयुक्तमें युक्त, तथा युक्तमें अयुक्त ऐसी बुद्धि करना।

अस्मिता आरोपको कहते हैं आरोप दो प्रकारका है—दृश्य अर्थात् प्रपंचमें द्रष्टा—चेतन-का आरोप और द्रष्टामें दृश्यका आरोप। यह दोनों प्रकारका आरोप यानि भ्रम जैन परिभाषाके अनुसार मिथ्यात्व ही है। यदि अस्मिताको अहंकार ममकारका बीज मान लिया जाय तो वह राग या द्वेष रूप ही है।

राग और द्वेष कषायके भेद ही हैं।

अभिनिवेशका उदाहरण भाष्यकारने दिया है कि—मैं कभी न मरूं, सदा बना रहूं, अर्थात् मरणसे भय और जीवितकी आशा, यह जैनपरिभाषाके अनुसार भयसंज्ञा ही है। भयसंज्ञाकी तरह अन्य—अर्थात् आहार, मैथुन और परिग्रहसंज्ञाको भी अभिनिवेश ही समझना चाहिये, क्योंकि भयके समान आहार आदिमें भी विद्वानोंकाभी अभिनिवेश देखाजाता है। विद्वानोंमें अभिनिवेशका अभाव सिर्फ उस समय पाया जाता है जब कि वे अप्रमत्तदशामें वर्तमान हों और अप्रमत्तभावसे उन्होंने दस संज्ञाओंको रोक दिया हो। संज्ञा यह मोहका विलास या मोहसे व्यक्त होनेवाला चैतन्यका स्फुरण

ही है। इस प्रकार सभी क्लेश जैन संकेतके अनुसार मोह-नीयकर्मके औदायिकभावरूप ही हैं। इसीसे योगदर्शनमें क्लेशक्षयसे कैवल्यप्राप्ति और जैनदर्शनमें मोहक्षयसे कैवल्य प्राप्ति कही गई है।

सूत्र १०—सूक्ष्म—अर्थात् दग्धबीज सदृश—क्लेशोंका नाश चित्तके नाशके साथ ही सूत्रकारने माना है। इस बातको जैनप्रक्रियाके अनुसार यों कह सकते हैं कि जो क्लेश अर्थात् मोहप्रधान घातिकर्म दग्धबीजसदृश हुए हों, उनका नाश बारहवें गुणस्थानसंबंधी यथाख्यात चारित्रसे होता है।

सूत्र १३—प्रस्तुत सूत्रके भाष्यमें कर्म, उसके विपाक और विपाकसंबंधी नियम आदिके विषयमें मुख्य सात बातें ऐसी हैं जिनके विषयमें मतभेद दिखा कर उपाध्यायजीने जैनप्रक्रियाके अनुसार अपना मन्तव्य बतलाया है। वे सात बातें ये हैं—१ विपाक तीन ही प्रकारका है। २ कर्मप्रचयके बंध और फलका क्रम एक सा होता है, अर्थात् पूर्वबद्ध कर्मका फल पहले ही मिलता है और पश्चात्बद्ध कर्मका फल पश्चात्। ३ वासनाकी अनादिकालीनता और कर्माशयकी एकभविकता अर्थात् वासना और कर्माशयकी भिन्नता। ४ कर्माशयकी एकभविकता और प्रारब्धता। ५ कर्माशयका उद्बोधक मरण ही है, अर्थात् जन्मभर किये

१ पा० ४ सू० ३–३४। २ तत्त्वार्थ अध्याय १० सूत्र १।

हुए कर्माशयका फल मरणके बाद ही मिलता है। ६ मरणके समय कर्माशयका फलोन्मुख होना यह उसकी प्रधानताका लक्षण है, और उस समय फलोन्मुख न होना उसकी गौणताका लक्षण है। ७ गौणकर्मका प्रधानकर्ममें आवापगमन अर्थात् संमिलित होकर उसमें दब जाना।

इनके विषयमें क्रमशः जैनसिद्धांत इस प्रकार है-१ विपाक तीन ही नहीं बल्कि अधिक हैं, क्योंकि वैदिक लोगोंने ही गंगामरणको अदृष्ट विशेषका फल माना है, जो सूत्रोक्त तीन विपाकोंसे भिन्न है। तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो कमसे कम ज्ञानावरण आदि आठ विपाक तो मानने ही चाहिये।

२ यह एकान्त नियम नहीं है कि जो कर्मव्यक्ति पूर्वबद्ध हो उसका फल प्रथम ही मिलें और पश्चात्बद्ध कर्मव्यक्तिका फल पीछे मिले, किन्तु कभी कभी कर्मके बन्धन और फलक्रममें विपर्यय भी हो जाता है।

३ वासना भी एकप्रकारका कर्म अर्थात् भावकर्म है अतएव वासना और कर्म ये दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं।

४ एकभविकताका नियम सिर्फ आयुष्कर्ममें ही लागू पड सकता है। ज्ञानावरणादि अन्य कर्म अनेकभविक भी होते हैं। प्रारब्धता-विपाकवेद्यता-का नियम भी सिर्फ आयु-

ष्कर्ममें लागू पडता है, क्योंकि अन्य सभी कर्म विपाकोदयके सिवाय अर्थात् प्रदेशोदयद्वारा भी भोगे जा सकते हैं।

५ मरणके सिवाय अन्य अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि निमित्त भी कर्माशयके उद्बोधक होते हैं।

६ मरणके समय अवश्य उदयमान होनेवाला कर्म आयु ही है, इस लिये यदि प्रधानता माननी हो तो वह सिर्फ आयुष्कर्ममें ही घटाई जा सकती है, अन्य कर्मोंमें नहीं।

७ गौणकर्मका प्रधानकर्ममें आवापगमन होता है यह बात गोल–माल जैसी है। आवापगमनका पूरा भाव संक्रमणविधिको विना जाने ध्यानमें नहीं आसकता, इस लिये कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थोंमेंसे संक्रमणका विचार जान लेना चाहिये।

सूत्र १५–सूत्रकारने संपूर्ण दृश्यप्रपंचको विवेकिके लिये दुःखरूप कहा है, इस कथनका नयदृष्टिसे पृथक्करण करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि दृश्यप्रपंच दुःखरूप है सो निश्चयदृष्टिसे, व्यवहारदृष्टिसे तो वह सुख दुःख उभयरूप है। इस पृथक्करणकी पुष्टि वे सिद्धसेनदिवाकरके एक स्तुतिवाक्यसे करते हैं। उस वाक्यका भाव इस प्रकार है " हे वीतराग! तूने अनंत भवबीजको फेंक दिया है, और अनंत ज्ञान प्राप्त किया है, फिर भी तेरी कला न तो कम हुई है और न अधिक, तू तो समभाव अर्थात् एक रूपताको ही तारण, धारण

किये हुए है।" इसमें जो अनंत भवबीजका फेंकना कहा गया है सो संसारको निश्चयदृष्टिसे दुःखरूप माननेसे ही घट सकता है।

सूत्र १९—इसमें भाष्यकारने सृष्टिसंहार क्रमको सांख्यसिद्धांतके अनुसार वर्णन किया है। सांख्यशास्त्र सत्कार्यवाद मानता है अर्थात् असत् का उत्पाद और सत् का अभाव नहीं मानता। इसपर उपाध्यायजी कहते हैं कि—उक्त सिद्धांत एकांतरूप नहीं मानना चाहिये, क्योंकि एकांतरूप मान लेनेमें प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका अस्वीकार करना पडता है, जिससे कार्यमें अनादि-अनंतताका प्रसंग आता है जो इष्ट नहीं है। इसलिये उक्त दोनों अभाव मान कर कथंचित् असत् का उत्पाद और सत् का अभाव मानना चाहिये। ऐसा मान लेनेसे वस्तुमात्रकी द्रव्यपर्यायरूपता घट जायगी, और इससे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप जो वस्तुमात्रका त्रिरूप लक्षण है वह भी घटित हो जायगा।

सूत्र ३१—सूत्रकारने जाति, देश, काल और समय-आचार व कर्त्तव्य-के बंधनसे रहित अर्थात् सार्वभौम ऐसे पाँच यमोंको महाव्रत कहा है। इस विषयमें जैनप्रक्रिया बतलाते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि-सर्व शब्दके साथ अहिंसादि पाँच यमोंकी जब प्रतिज्ञा की जाती है तब वे महाव्रत कहलाते हैं, और देश शब्दके साथ जब उनकी प्रतिज्ञा ली जाती है तब वे अणुव्रत कहलाते हैं।

सूत्र ३२—भाष्यकारने दो प्रकारका शौच कहा है, बाह्य और आभ्यंतर। शुद्ध भोजन, पान तथा मिट्टी और जलसे होने वाला शौच बाह्य शौच है, और चित्तके दोषोंका संशोधन आभ्यंतर शौच है।

जैन परिभाषाके अनुसार बाह्य शौच द्रव्यशौच कहलाता है और आभ्यंतर शौच भावशौच कहलाता है। जैन शास्त्रमें भावशौचको बाधित न करनेवाला ही द्रव्यशौच ग्राह्य माना गया है। उदाहरणार्थ शृंगार आदि वासनासे प्रेरित होकर जो स्नान आदि शौच किया जाता है वह ग्राह्य नहीं है।

सूत्र ५५—इसके भाष्यमें इन्द्रियोंकी परमवश्यताका स्वरूप और उसका उपाय ये दो बातें मुख्य हैं। भाष्यकारने अनेक मतभेद दिखा कर अन्तमें अपने मतसे परमवश्यताका स्वरूप दिखाते हुए लिखा है कि इन्द्रियोंके निरोधको अर्थात् शब्दादि विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संबंध रोक देनेको परम-वश्यता (परमजय) कहते हैं। परमवश्यताका उपाय उन्होंने चित्त निरोधको माना है।

इन दोनों बातोंके विषयमें जैन मान्यतानुसार मतभेद दिखाते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि—इन्द्रियोंका निरोध उनकी परमवश्यता नहीं है, किन्तु अच्छे या बुरे शब्द आदि विषयोंके साथ कर्ण आदि इन्द्रियोंका संबंध होनेपर भी तत्त्व ज्ञानके बलसे जो रागद्वेषका पैदा न होना वही इन्द्रियोंकी परमवश्यता है। परमवश्यताका एक मात्र उपाय ज्ञान ही

है, चित्तनिरोध नहीं। ज्ञान भी ऐसा समझना चाहिये जो अध्यात्म भावनासे होनेवाले समभावके प्रवाहवाला हो, यही ज्ञान राजयोग कहलाता है। सारांश यह है कि चित्तका जय हो या बाह्य इन्द्रियोंका जय हो सबका मुख्य उपाय उक्त ज्ञानरूप राजयोग ही है, प्राणायाम आदि हठ-योग नहीं। क्योंकि विकासमार्गमें विघ्नरूप होनेसे हठयोगके अभ्यासका शास्त्रमें बार बार निषेध किया है।

तृतीय पाद.

सूत्र ५५—इसके भाष्यमें भाष्यकारने सांख्यसिद्धांतके अनुसार योगदर्शनका सिद्धांत बतलाते हुए मुख्य तीन बातें लिखी हैं। (१) कैवल्य अर्थात् मुक्तिका मतलब भोगके अभावसे है। भोग सुख, दुःख, ज्ञान आदिरूप है जो वास्तवमें प्रकृतिका विकार है, आत्मा-पुरुष-का नहीं। पुरुष तो कूटस्थ-नित्य होनेसे वास्तवमें न तो बद्ध है और न मुक्त। इसलिये पुरुषकी मुक्तिका मतलब उसमें आरोपित भोगके अभावमात्रसे है। (२) विवेकख्याति अर्थात् जड चेतनका भेदज्ञान ही मोक्षका मुख्य उपाय है। भेदज्ञान हो जानेसे अविद्या आदि क्लेश और कर्मविपाकका अभाव हो जाता है। इस अभावका होना ही मुक्ति है। मुक्तिके पूर्वमें सर्वज्ञत्व (सर्वविषयक ज्ञान) किसीको होता है और

किसीको नहीं (३) जिसको सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है उसको भी मुक्ति प्राप्त होनेपर अर्थात् मन, शरीर आदि छूट जाने पर वह नहीं रहता, क्योंकि सर्वज्ञत्व यह मनका कार्य है आत्माका नहीं, आत्मा तो कूटस्थ-निर्विकार चेतनस्वरूप है।

इन तीनों बातोंके विषयमें जैनशास्त्रका जो मतभेद है उसीको उपाध्यायजीने दिखाया है—(१) सुख, दुःख आदिरूप भोग संसार अवस्थामें आत्माका वास्तविक विकार है, मनका नहीं। इसलिये मुक्तिका मतलब संसारकालीन वास्तविक भोगके अभावसे है, आरोपित भोगके अभावसे नहीं। (२) विवेकख्याति (जैन परिभाषानुसार सम्यग्दर्शन) से और क्लेश आदिके अभावसे मोक्ष होता है सही, पर क्लेशका अभाव होते ही सर्वज्ञत्व अवश्य प्रकट होता है। मुक्तिके पहले क्लेशकी निवृत्ति अवश्य हो जाती है, और क्लेश (मोह)की निवृत्ति हो जाने पर सर्वज्ञत्व (केवलज्ञान) अवश्य हो जाता है। (३) मुक्ति पानेवाले सभी आत्माओंको सर्वज्ञत्व नियमसे प्रकट होता है इतना ही नहीं, बल्कि वह प्रकट होने पर कायम रहता है, अर्थात् मुक्ति होने पर चला नहीं जाता। क्योंकि सर्व विषयक ज्ञान करना यह आत्माका स्वभाव है, मनका नहीं। संसारदशामें आत्माको ऐसा ज्ञान न होनेका कारण उसके ऊपर आवरणका होना है। मोक्षदशामें आवरणके न रहनेसे उक्त ज्ञान आप ही

आप हुआ करता है, ऐसा ज्ञान होते रहनेसे आत्मामें कूट-स्थत्वके भंगका जो दूषण दिया जाता है वह जैन शास्त्रका भूषण है। क्योंकि जैन शास्त्र केवल जड (प्रकृति) को ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप नहीं मानता, किन्तु चेतनको भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप मानता है।

चतुर्थ पाद.

सूत्र १२—प्रस्तुत सूत्रमें वस्तुके प्रत्येक धर्मकी भावि, भूत और वर्तमान ऐसी तीन अवस्थायें मान कर उसमें अध्वभेद अर्थात् कालकृत भेदका समावेश बतलाया गया है, और वर्तमानकी तरह भूत तथा भावि अवस्थाका भी अपने अपने स्वरूपमें प्रत्येक धर्मके साथ संबंध है ऐसा कहा है।

इस मन्तव्यका जैन प्रक्रियाके साथ मिलान करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि वस्तुको द्रव्यपर्यायरूप माननेसे ही पूर्वोक्त अध्वभेदकी व्यवस्था घट सकती है अन्यथा नहीं। वस्तुको द्रव्यपर्यायरूप मान लेना यही स्याद्वाद है। ऐसा स्याद्वाद मान लेनेसे ही सब प्रकारके वचन-व्यवहारकी ठीक ठीक सिद्धि हो जाती है।

सूत्र १४—सूत्रकारने सांख्य प्रक्रियाके अनुसार त्रिगुणात्मक प्रकृतिका एक परिणाम मान कर कार्यमें एकताके

व्यवहारका समर्थन किया है। इस प्रक्रियाके स्वरूपके द्वारा स्याद्वाद पद्धतिका समर्थन करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि एकसे अनेक और अनेकसे एक परिणाम माननेवाली स्याद्वाद शैलीका स्वीकार करने ही से उक्त सांख्य प्रक्रिया घट सकती है।

सूत्र १८—इस सूत्रमें आत्माको अपरिणामी साबीत किया है। इसका समर्थन करते हुए भाष्यकारने कहा है कि शब्द आदि विषय कभी जाने जाते हैं और कभी नहीं। इसलिए चित्त तो परिणामी है, परंतु चित्तकी वृत्तियाँ कभी अज्ञात नहीं रहतीं। इसलिए आत्मा अपरिणामी अर्थात् कूटस्थ ही है। इस मन्तव्यका प्रतिवाद करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि—जैसा चित्त परिणामी है वैसा आत्मा भी। आत्माको परिणामी मान लेने पर भी चित्तकी सदाज्ञाततामें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि चित्त ज्ञान—रूप है और ज्ञान आत्माका धर्म है। धर्म होनेसे वह आत्माके सन्निहित होनेके कारण कभी अज्ञात नहीं रहता। शब्द आदि विषय कभी ज्ञात, और कभी अज्ञात होते हैं। इसका कारण यह है कि शब्द आदि विषयका इन्द्रियके साथ जो व्यञ्जनावग्रहरूप सम्बन्ध है वह सदा नहीं रहता अर्थात् कभी होता है और कभी नहीं। यद्यपि इन्द्रियके द्वारा शब्द आदि विषय सदा नहीं जाने जाते परन्तु केवलज्ञानद्वारा सदा ही

जाने जाते हैं। क्योंकि केवलज्ञानमें एक ऐसी शक्ति है जिससे वह शब्द आदि विषयोंको सदा ही जान लेता है।

सूत्र २३—उन्नीससे तेईसतकके पाँच सूत्रोंमें सूत्रकारने जो कुछ चर्चा की है उससे आत्माके विषयमें सांख्यसिद्धान्तसम्मत तीन बातें मुख्यतया मालूम होती हैं। वे ये हैं—(१) चैतन्यकी स्वप्रकाशता। (२) जो चैतन्य अर्थात् चिति-शक्ति है वही चेतन है अर्थात् चिति-शक्ति स्वयं स्वतंत्र है। वह किसीका अंश नहीं है और उसके भी कोई अंश नहीं हैं। अतएव वह निर्गुण है। (३) चिति-शक्ति सर्वथा कूटस्थ होनेसे निर्लेप है। इन बातोंके विषयमें जैन मन्तव्यके अनुसार मतभेद दिखाते हुए उपाध्यायजी अन्तमें कहते हैं कि ये बातें किसी नयकी अपेक्षासे मान्य की जा सकती हैं सर्वथा नहीं। उक्त बातोंके विषयमें मतभेद क्रमशः इस प्रकार है—

(१) चैतन्य स्वप्रकाश भी है और परप्रकाश भी। उसकी स्वप्रकाशता अग्निके प्रकाशके समान अन्य पदार्थके संयोगके सिवाय ही प्रत्येक प्राणिको अनुभव-सिद्ध है। चैतन्यकी परप्रकाशता आवरणदशामें विषयके सम्बंधके अधीन है और अनावरण-दशामें स्वाभाविक है।

(२) चैतन्य यह शक्ति (गुण) अर्थात् अन्य मूल तत्त्वका अंश है, वह अन्य तत्त्व चेतन या आत्मा है।

उसमें चैतन्यकी तरह दूसरे भी अनन्त गुण (शक्तियाँ) हैं, अर्थात् आत्मा अनंत गुणोंका आधार है। वह जो निर्गुण कहा जाता है उसका मतलब उसमें प्राकृतिक गुणोंके अभावसे है।

(३) आत्मा एकांत-निर्लेप नहीं है उसमें संसार-अवस्थामें कथंचित् लेपका भी संभव है।

सूत्र ३१—भाष्यकारने प्रस्तुत सूत्रके भाष्यमें सांख्य मतके अनुसार ज्ञानको सत्त्वगुणका कार्य कह कर उसे प्राकृतिक बतलाया है, और कहा है कि निरावरण दशामें ज्ञान अनन्त हो जाता है जिससे उसके सामने सभी ज्ञेय (विषय) अल्प बन जाते हैं, जैसे कि आकाशके सामने जुगनू। इन दोनों बातोंका विरोध करते हुए वृत्तिकार जैन-मन्तव्यको इस प्रकार दिखाते हैं-ज्ञान प्राकृतिक अर्थात् अचैतन्य नहीं है किन्तु वह चैतन्यरूप है। यह बात नहीं कि ज्ञानके अनन्त हो जानेके समय सभी ज्ञेय अल्प हो जाते हैं, बल्कि ज्ञानकी अनन्तता ज्ञेयकी अनन्तता पर ही अवलम्बित है अर्थात् ज्ञेय अनन्त हैं। अतएव उन सबको जाननेवाला निरावरण ज्ञान भी अनन्त कहलाता है।

सूत्र ३३—इसकी व्याख्यामें भाष्यकारने क्रमका स्वरूप दिखाते हुए कहा है कि नित्यता दो प्रकारकी है। (१) कूटस्थ-नित्यता अर्थात् अपरिणामि तत्त्व। (२) परिणामि-

नित्यता अर्थात् परिवर्तनशील तत्त्व। इनमेंसे पहली नित्यता पुरुष (आत्मा) में है और दूसरी प्रकृतिमें।

इस पर जैन मतभेद दिखाते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि—कूटस्थनित्यता माननेमें कोई सबूत नहीं। आत्मा हो या प्रकृति सभीमें परिणामिनित्यता ही है, अर्थात् वस्तुमात्रमें द्रव्यरूपसे नित्यता और पर्यायरूपसे अनित्यता युक्तिसंगत होनेके कारण सबका एकमात्र लक्षण "उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य" ऐसा ही करना चाहिये।

योगविंशिकाका सार.

गाथा १—मोक्ष-प्राप्तिमें उपयोगी होनेके कारण यद्यपि सब प्रकारका विशुद्ध धर्म-व्यापार योग ही है. तथापि यहाँ विशेष रूपसे स्थान आदि सम्बन्धी धर्म-व्यापारको ही योग जानना चाहिए ॥

खुलासा—जिस धर्म-व्यापारमें प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि और विनियोग इन पाँच भावोंका सम्बन्ध हो वही धर्म-व्यापार विशुद्ध है। इसके विपरीत जिसमें उक्त भावोंका सम्बन्ध न हो वह क्रिया योगरूप नहीं है। उक्त प्रणिधान आदि भावोंका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) अपनेसे नीचेकी कोटीवाले जीवोंके प्रति द्वेष न रख कर परोपकारपूर्वक अपनी वर्तमान धार्मिक भूमिकाके कर्तव्यमें सावधान रहना यह प्रणिधान है।

(२) वर्तमान धार्मिक भूमिकाके उद्देश्यसे किया जानेवाला और उसके उपायकी पद्धतिसे युक्त जो चञ्चलता-रहित तीव्र प्रयत्न वह प्रवृत्ति है।

(३) जिस परिणामसे धार्मिक प्रवृत्तिमें विघ्न नहीं आते वह विघ्न-जय है। विघ्न तीन तरहके होते हैं, १ भूख, प्यास आदि परीषह, २ शारीरिक-रोग और ३ मनो

विभ्रम। ये विघ्न धार्मिक प्रवृत्तिमें वैसे ही बाधा डालनेवाले हैं जैसे कहीं प्रयाण करनेमें रास्तेके काँटे-पथ्थर, शरीर-गत ज्वर और मनोगत दिग्भ्रम। तीन तरहका विघ्न होनेसे उसका जय भी तीन प्रकारका समझना चाहिये।

(४) ऐसी धार्मिक भूमिकाको प्राप्त करना जिसमें बड़ोंके प्रति बहुमानका भाव हो, बराबरीवालोंके प्रति उपकारकी भावना हो और कम दरजेवालोंके प्रति दया, दान तथा अनुकंपाकी भावना हो वह सिद्धि है।

(५) अहिंसादि जो धार्मिक भूमिका अपनेको सिद्ध हुई हो उसे योग्य उपायोंके द्वारा दूसरोंको भी प्राप्त कराना यह विनियोग है॥

स्थान आदि क्या क्या है और उसमें योग कितने प्रकारका है यह दिखलाते हैं—

गाथा २—स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलंबन और अनालंबन ये योगके पाँच भेद हैं। इनमेंसे पहले दो कर्मयोग हैं और पिछले तीन ज्ञानयोग हैं॥

खुलासा—(१) कायोत्सर्ग, पर्यंकासन, पद्मासन आदि आसनोंको स्थान कहते हैं। (२) प्रत्येक क्रिया आदिके समय जो सूत्र पढ़ा जाता है उसे ऊर्ण अर्थात् वर्ण या शब्द समझना चाहिए। (३) अर्थका मतलब सूत्रार्थके ज्ञानसे है। (४) बाह्य प्रतिमा आदिका जो ध्यान वह आलंबन

है। (५) रूपी द्रव्यके आलंबनसे रहित जो शुद्ध चैतन्य-मात्रकी समाधि वह अनालंबन है। स्थान तो स्वयं ही क्रिया-रूप है और सूत्रका भी उच्चारण किया जाता है इसीलिए स्थान तथा ऊर्णको कर्मयोग कहा है। ऊपर की हुई व्याख्यासे यह स्पष्ट है कि अर्थ, आलंबन और अनालंबन ये तीनों ज्ञानयोग हैं। योगका मतलब मोक्षके कारणभूत आत्म-व्यापारसे है। स्थान आदि आत्म-व्यापार मोक्षके कारण हैं इसलिए उनकी योग-रूपता सिद्ध है॥

स्थान आदि उक्त पाँच योगके अधिकारिओंको बतलाते हैं—

गाथा २—देशचारित्रवाले और सर्वचारित्रवालेको यह स्थान आदि योग अवश्य होता है। चारित्रवालेमें ही योगका संभव होनेके कारण जो चारित्ररहित अर्थात् अपुं-नर्बंधक[1] और सम्यग्दृष्टि हो उसमें उक्त योग बीजमात्ररूपसे होता है ऐसा कोई आचार्य मानते हैं॥

खुलासा—योग क्रियारूप हो या ज्ञानरूप, पर वह चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशम अर्थात् शिथिलताके होनेपर अवश्य प्रकट होता है। इसीलिए चारित्री ही योगका अधिकारी है, और यही कारण है कि ग्रन्थकार हरिभद्रसू-

---

१ जो फिरसे मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति नहीं बांधता वह अपुनर्बंधक कहलाता है।

रिने स्वयं योगविंदुमें अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय इन पाँच योगोंकी संपत्ति चारित्रमें ही मानी है। यह प्रश्न उठ सकता है कि जब चारित्रीमें ही योगका संभव है तब निश्चयदृष्टिसे चारित्रहीन किन्तु व्यवहार-मात्रसे श्रावक या साधुकी क्रिया करनेवालेको उस क्रियासे क्या लाभ, इसका उत्तर ग्रंथकारने यही दिया है कि-" व्यवहार-मात्रसे जो क्रिया अपुनर्बंधक और सम्यग्दृष्टिके द्वारा की जाती है वह योग नहीं किन्तु योगका कारण होनेसे योगका बीजमात्र है। जो अपुनर्बंधक या सम्यग्दृष्टि नहीं है किन्तु सकृद्बंधक[1] या द्विर्बंधक आदि है उसकी व्यावहारिक क्रिया भी योगबीजरूप न होकर योगाभास अर्थात् मिथ्या-योगमात्र है। अध्यात्म आदि उक्त योगोंका समावेश इस ग्रंथमें वर्णित स्थान आदि योगोंमें इस प्रकार है—अध्यात्मके अनेक प्रकार हैं। देव-सेवारूप अध्यात्मका समावेश स्थानयोगमें, जपरूप अध्यात्मका समावेश ऊर्ण-योगमें और तत्त्वचिंतनरूप अध्यात्मका समावेश अर्थयोगमें होता है। भावनाका भी समावेश उक्त

---

१ जो मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति एक वार बांधनेवाला हो वह सकृद्बन्धक या सकृदावर्तन कहलाता है और जो वैसी स्थिति दो वार बांधनेवाला हो वह द्विर्बन्धक या द्विरावर्त्तन कहलाता है।

तीनों योगमें ही समझना चाहिये। ध्यानका समावेश आ-लंबन योगमें है और समता तथा वृत्तिसंक्षयका समावेश अनालंबन योगमें होता है॥

स्थान आदि योगके भेद दिखाते हैं—

गाथा ४—उक्त स्थान आदि प्रत्येक योग तत्त्वदृष्टिसे चार चार प्रकारका है। ये चार प्रकार शास्त्रमें ये हैं–इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि॥

उक्त इच्छा आदि भेदोंका स्वरूप बतलाते हैं—

गाथा ५, ६—जिस दशामें स्थान आदि योगवालोंकी कथा सुन कर प्रीति होती हो और जिसमें विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेवालोंके प्रति बहुमानके साथ उल्लासभरे विविध प्रकारके सुंदर परिणाम अर्थात् भाव पैदा होते हों वह योगकी दशा इच्छा-योग है। प्रवृत्तियोग वह कहलाता है जिसमें सब अवस्थामें उपशमभावपूर्वक स्थान आदि योगका पालन हो॥

जिस उपशमप्रधान स्थान आदि योगके पालनमें अर्थात् प्रवृत्तिमें योगके बाधक कारणोंकी चिंता न हो वह स्थिरता योग है। स्थानादि सब अनुष्ठान दूसरोंका भी हितसाधक हो तब वह सिद्धियोग है॥

खुलासा—हर एक योगकी चार अवस्थायें होती हैं, जो क्रमशः इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धियोग कहलाते हैं। (१) जिस अवस्थामें द्रव्य, क्षेत्र आदि अनुकूल

साधनोंकी कमी होनेपर भी ऐसा उल्लास प्रकट हो जिससे शास्त्रोक्त विधिके प्रति बहुमान-पूर्वक अल्पमात्र योगाभ्यास किया जाय वह अवस्था इच्छायोग है। (२) जिस अवस्थामें वीर्योल्लासकी प्रबलता हो जानेसे शास्त्रानुसार सांगोपांग योगाभ्यास किया जाय वह प्रवृत्तियोग है। (३) प्रवृत्तियोग ही स्थिरतायोग है, पर अंतर दोनोंमें इतना ही है कि प्रवृत्तियोगमें अतिचार अर्थात् दोषका डर रहता है और स्थिरतायोगमें डर नहीं रहता। (४) सिद्धियोग उस अवस्थाका नाम है जिसमें स्थानादि योग उसका आचरण करनेवाले आत्मामें तो शांति पैदा करे ही, पर उस आत्माके संसर्गमें आनेवाले साधारण प्राणियोंपर भी शांतिका असर डाले। सारांश यह है कि सिद्धियोगवालेके संसर्गमें आनेवाले हिंसक प्राणी भी हिंसा करना छोड़ देते हैं और असत्यवादी भी असत्य बोलना छोड़ देते हैं अर्थात् उनके दोष शांत हो जाते हैं।

उक्त इच्छा आदि योगभेदोंके हेतुओंको कहते हैं—

गाथा ७—ये विविध प्रकारके इच्छा आदि योग प्रस्तुत स्थान आदि योगकी श्रद्धा, प्रीति आदिके सम्बन्धसे भव्य प्राणिओंको तथाप्रकारके क्षयोपशमके कारण होते हैं॥

खुलासा—इच्छा आदि चारों योग आपसमें एक दूसरेसे भिन्न तो हैं ही, पर उन सबमेंसे एक एक योगके

भी असंख्य प्रकार हैं। इस विविधताका कारण क्षयोपशम-भेद अर्थात् योग्यताभेद है। यहाँ भव्यप्राणिका मतलब अपुनर्बंधक तथा सम्यग्दृष्टि आदिसे है॥

इच्छा आदि योगोंका कार्य—

गाथा ८—इन इच्छा आदि उक्त चारों योगोंके कार्य क्रमसे अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम है॥

खुलासा—अनुकम्पा आदिका स्वरूप इस प्रकार है—(१) दुःखित प्राणिओंके भीतरी और बाहरी दुःखोंको यथाशक्ति दूर करनेकी जो इच्छा वह अनुकम्पा है। (२) संसाररूप क़ैदखानेकी निःसारता जान कर उससे विरक्त होना निर्वेद है। (३) मोक्षकी अभिलाषाको संवेग कहते हैं। (४) काम, क्रोधकी शान्ति प्रशम है॥

अब स्थान आदि योगभेदोंको दृष्टांतमें घटा लेनेकी सूचना करते हैं—

गाथा ९—इस प्रकार योगका सामान्य और विशेष स्वरूप तो दिखाया गया परंतु उसकी जो चैत्यवंदनरूप दृष्टांतके साथ स्पष्ट घटना है अर्थात् उसको चैत्यवंदनमें जैसे विभाग-पूर्वक उतार कर घटाया जा सकता है उसे ठीक ठीक तत्त्वज्ञको समझ लेना चाहिये॥

अब चैत्यवन्दनमें योग घटा देते हैं—

गाथा १०—जब कोई श्रद्धावाला व्यक्ति 'अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं' इत्यादि चैत्यवंदन सूत्रका यथाविधि (शुद्ध) उच्चारण करता है तब उसको शुद्ध उच्चारणसे चैत्यवंदनसूत्रके पदोंका यथार्थ ज्ञान होता है।

खुलासा—स्वर[1], संपदा[2] और मात्रा[3] आदिके नियमसे शुद्ध वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना यह यथाविधि उच्चारण अर्थात् वर्णयोग है। वर्णयोगका फल यथार्थ पदज्ञान है, अतएव जब चैत्यवन्दन सूत्र पढ़ते समय वर्णयोग हो तभी सूत्रके पदोंका ज्ञान यथार्थ हो सकता है।

गाथा ११—यह यथार्थ पदज्ञान अर्थ तथा आलंबन योगवालेके लिए बहुत कर अविपरीत (साक्षात् मोक्ष देनेवाला) होता है और अर्थ तथा आलम्बन-योगरहित किन्तु स्थान तथा वर्ण योगवालेके लिए केवल श्रेय (परम्परासे मोक्ष देनेवाला) होता है।

खुलासा—जो अनुष्ठान मोक्षको देनेवाला हो वह सदनुष्ठान है। सदनुष्ठान दो प्रकारका है, पहला शीघ्र (साक्षात्) मोक्ष देनेवाला, दूसरा विलंबसे (परम्परासे) मोक्ष देनेवाला। पहलेको अमृतानुष्ठान और दूसरेको तद्धेतु-अनुष्ठान कहते हैं।

---

१ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। २ विश्रान्तिस्थान। ३ ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत।

चैत्यवंदन एक प्रारम्भिक अनुष्ठान है, इसलिए यह विचारना चाहिये कि वह अमृतानुष्ठानका रूप कब धारण करता है और तद्धेतु-अनुष्ठानका रूप कब धारण करता है।

जब चैत्यवंदन-क्रियामें स्थान, वर्ण, अर्थ और आलंबन इन चारों योगोंका सम्बन्ध हो तब वह अमृतानुष्ठान है और जब उसमें स्थान, वर्ण-योगका तो सम्बन्ध हो किन्तु अर्थ, आलम्बन-योगका सम्बन्ध न हो पर उनकी रुचि मात्र हो तब वह तद्धेतु-अनुष्ठान है।

जब विधिके अनुसार आसन जमा कर शुद्ध उच्चारण-पूर्वक सूत्र पढ़ कर चैत्यवंदन किया जाता है और साथ ही उन सूत्रोंके अर्थ (तात्पर्य) तथा आलम्बनमें[1] उपयोग रहता है तब वह चैत्यवंदन उक्त चारों योगोंसे संपन्न होता है ऐसा चैत्यवंदन भावक्रिया है, क्योंकि उसमें अर्थ तथा आलंबन योगमें उपयोग रखने रूप ज्ञान-योग वर्तमान है। यथाविधि आसन बांध कर शुद्ध रीतिसे सूत्र पढ़ कर चैत्यवंदन किया जाता हो पर उस समय सूत्रके अर्थ तथा आलंबनमें उपयोग न हो तो वह चैत्यवंदन ज्ञानयोगशून्य होनेके कारण द्रव्यक्रिया-रूप है, ऐसी द्रव्यक्रियामें अर्थ, आलंबन-योगका अभाव

---

१ चैत्यवंदनकी चार स्तुतियोंमें पहलीका आलम्बन विशेष तीर्थंकर, दूसरीका सामान्य तीर्थंकर, तीसरीका प्रवचन और चौथीका शासनदेवता है।

होनेपर भी उसकी तीव्र रुचि हो तो वह द्रव्यक्रिया अन्तमें भावक्रियाके द्वारा कभी न कभी मोक्षको देनेवाली मानी गई है, इसीसे वैसी क्रियाको तद्धेतु-अनुष्ठान और उपादेय कहा है ॥

स्थान आदि योगोंके अभावमें चैत्यवंदन केवल निष्फल ही नहीं बल्कि अनिष्टफलदायक होता है, इसलिए योग्य अधिकारीको ही वह सिखाना चाहिये ऐसा वर्णन करते हैं-

गाथा १२—जो व्यक्ति अर्थ, आलंबन इन दो योगोंसे शून्य होकर स्थान तथा वर्ण योगसे भी शून्य हैं उनका वह अनुष्ठान कायिक चेष्टामात्र अर्थात् निष्फल होता है अथवा मृषावादरूप होनेसे विपरीत फल देनेवाला होता है, इसलिए योग्य अधिकारिओंको ही चैत्यवन्दन सूत्र सिखाना चाहिये ॥

खुलासा—जो अनुष्ठान निष्फल या अनिष्टफलदायक हो वह असदनुष्ठान है। इसके तीन प्रकार हैं, (१) अननुष्ठान (२) गरानुष्ठान (३) विषानुष्ठान। चैत्यवन्दनमें ही यह देख लेना चाहिये कि वह कब किस प्रकारके असदनुष्ठानका रूप धारण करता है ? ।

जिस चैत्यवन्दनाक्रियामें न अर्थ, आलंबन योग है न उनकी रुचि है और न स्थान, वर्ण-योगका आदर ही है वह क्रिया संमूर्च्छिम जीवकी प्रवृत्तिकी तरह मानसिकउपयोगशून्य होनेके कारण निष्फल है; इसी निष्फल क्रियाको

अननुष्ठान समझना चाहिये। इसी तरह चैत्यवंदन करते समय "ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि" इन पदोंसे स्थान, मौन, और ध्यान आदिकी प्रतिज्ञा की जाती है। ऐसी प्रतिज्ञा करनेके बाद स्थान, वर्ण आदि योगका भंग किया जाय तो वह चैत्यवन्दन महामृषावाद होनेसे निष्फल ही नहीं बल्कि कर्मबंधका कारण होनेसे अनिष्टफलदायक अतएव अननुष्ठान है।

स्थान, वर्ण आदि योगोंका सम्बन्ध होनेपर भी जो चैत्यवन्दन स्वर्ग आदि पारलौकिक सुखके उद्देश्यसे किया जाता है वह गरानुष्ठान और जो धन, कीर्ति आदि ऐहिक सुखकी इच्छासे किया जाता है वह विषानुष्ठान है। गरानुष्ठान और विषानुष्ठान मृषावादरूप है, क्योंकि पारलौकिक और ऐहिक सुखकी कामनासे किये जानेके कारण उनमें मोक्षकी प्रतिज्ञाका स्पष्ट भङ्ग है। इस प्रकार अननुष्ठान, गरानुष्ठान और विषानुष्ठान ये तीनों चैत्यवंदन हेय हैं। इसी कारणसे योग्य अधिकारिओंको ही चैत्यवंदनसूत्र सिखानेको शास्त्रमें कहा गया है। इस चैत्यवंदनके उदाहरणसे अन्य सब क्रियाओंमें सदनुष्ठान और असदनुष्ठानका रूप स्वयं घटा लेना चाहिये॥

चैत्यवन्दनके लिए योग्य अधिकारी कौन हैं यह दिखाते हैं—

गाथा १३—जो देशविरतिपरिणामवाले हों वे चैत्यवन्दनके योग्य अधिकारी हैं। क्योंकि चैत्यवन्दनसूत्रमें " कायं वोसिरामि " इस शब्दसे जो कायोत्सर्ग करनेकी प्रतिज्ञा सुनी जाती है वह विरतिके परिणाम होनेपर ही घट सकती है। इसलिए यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि देशविरति परिणामवाले ही चैत्यवन्दनके योग्य अधिकारी हैं ॥

खुलासा—चैत्यवन्दनके अंदर " ताव कायं, ठाणेणं " इत्यादि पाठके द्वारा कायोत्सर्गकी प्रतिज्ञा की जाती है। कायोत्सर्ग यह कायगुप्तिरूप विरति है, इसलिए विरति परिणामके सिवाय चैत्यवंदन-अनुष्ठान करना अनधिकारचेष्टामात्र है। देशविरतिवालेको चैत्यवन्दनका अधिकारी कहा है सो मध्यम अधिकारीका सूचनमात्र है। जैसे तराजूकी डण्डी बीचमें पकडनेसे उसके दोनों पलडे पकडमें आ जाते हैं वैसे ही मध्यम अधिकारीका कथन करनेसे नीचे और ऊपरके अधिकारी भी ध्यानमें आ जाते हैं। इसका फलित अर्थ यह है कि सर्वविरतिवाले मुनि तो चैत्यवन्दनके तात्त्विक अधिकारी हैं और अपुनर्बंधक या सम्यग्दृष्टि व्यवहारमात्रसे उसके अधिकारी हैं, परन्तु जो कमसे कम अपुनर्बंधक भावसे भी खाली हैं अतएव जो विधिबहुमान करना नहीं जानते वे सर्वथा चैत्यवन्दनके अनधिकारी हैं।

इससे वैसे आत्माओंको चैत्यवन्दन न तो सिखाना चाहिए और न कराना चाहिए। चैत्यवन्दनके अधिकारकी इस चर्चासे अन्य क्रियाओंके अधिकारका निर्णय भी स्वयं करलेना चाहिए ॥

जो लोग ऐसी शङ्का करते हैं कि अविधिसे भी चैत्य-वन्दन आदि क्रिया करते रहनेसे दूसरा फायदा हो या नहीं पर तीर्थ चालू रहनेका लाभ तो अवश्य है। अगर विधिका ही खयाल रक्खा जाय तो वैसा अनुष्ठान करनेवाले इने-गिने अर्थात् दो चार ही मिलेंगे और जब वे भी न रहेंगे तब क्रमशः तीर्थका उच्छेद ही हो जायगा। इसलिए कमसे कम तीर्थको कायम रखनेके लिए भी अविधि-अनुष्ठानका आदर क्यों न किया जाय? इसका उत्तर उन शङ्कावालोंको ग्रन्थकार देते हैं—

गाथा १४—अविधि अनुष्ठानकी पुष्टिमें तीर्थके अनु-च्छेदकी बातका सहारा लेना ठीक नहीं है, क्योंकि अविधि चालु रखनेसे ही असमञ्जस अर्थात् शास्त्रविरुद्ध विधान जारी रहता है, जिससे शास्त्रोक्त क्रियाका लोप होता है यह लोप ही तीर्थका उच्छेद है ॥

खुलासा—अविधिके पक्षपाती अपने पक्षकी पुष्टिमें यह दलील पेश करते हैं कि अविधिसे और कुछ नहीं तो तीर्थकी रक्षा होती है, परन्तु उन्हें जानना चाहिए कि तीर्थ

सिर्फ जनसमुदायका नाम नहीं है किन्तु तीर्थका मतलब शास्त्रोक्त क्रियावाले चतुर्विध संघसे है। शास्त्राज्ञा नहीं मानने वाले जनसमुदायको तीर्थ नहीं किन्तु हड्डिओंका संघातमात्र कहा है। इस दशामें यह स्पष्ट है कि यदि तीर्थकी रक्षाके बहानेसे अविधिका स्थापन किया जाय तो अन्तमें अविधिमात्र बाकी रहनेसे शास्त्रविहित क्रियारूप विधिका सर्वथा लोप ही हो जायगा। ऐसा लोप ही तीर्थका नाश है, इससे अविधिके पक्षपातियोंके पल्लेमें तीर्थ-रक्षारूप लाभके बदले तीर्थ-नाशरूप हानि ही शेष रहती है जो मुनाफेको चाहनेवालेके लिए मूल पूँजीके नाशके बराबर है॥

सूत्रोक्त क्रियाका लोप अहितकारी कैसे होता है यह दिखाते हैं—

गाथा १५—वह अर्थात् अविधिके पक्षपातसे होनेवाला सूत्रोक्त विधिका नाश वक्र (अनिष्ट परिणाम देनेवाला) ही है। जो स्वयं मरा हो और जो मारा गया हो उन दोनोंमें विशेषता अवश्य है, यह बात तीर्थके उच्छेदसे डरनेवालोंको विचारना चाहिए॥

खुलासा—जो शिथिलाचारी गुरु भोले शिष्योंको धर्मके नामसे अपनी जालमें फाँसते हैं और अविधि (शास्त्र विरुद्ध) धर्मका उपदेश करते हैं उनसे जब कोई शास्त्र-विरुद्ध उपदेश न देनेके लिये कहता है तब वे धर्मोच्छेदका

भय दिखा कर बिगड कर बोल उठते हैं कि "जैसा चल रहा है वैसा चलने दो, वैसा चलते रहनेसे भी तीर्थ (धर्म) टिक सकेगा। बहुत विधि (शास्त्र अनुकूलता) का ध्यान रखनेमें शुद्ध क्रिया तो दुर्लभ ही है, अशुद्ध क्रिया भी जो चल रही है वह छूट जायगी और अनादिकालीन अक्रियाशीलता (प्रमादवृत्ति) स्वयं लोगोंपर आक्रमण करेगी जिससे तीर्थका नाश होगा।" इसके सिवाय वे अपने अविधिमार्गके उपदेशका बचाव यह कह कर भी करते हैं कि "जैसे धर्मक्रिया नहीं करनेवालेके लिए हम उपदेशक दोप भागी नहीं हैं वैसे ही अविधिसे क्रिया करनेवालेके लिए भी हम दोषभागी नहीं। हम तो क्रियामात्रका उपदेश देते हैं जिससे कमसे कम व्यावहारिक धर्म तो चालु रहता है और इस तरह हमारे उपदेशसे धर्मका नाश होनेके बदले धर्मकी रक्षा ही हो जाती है।"

ऐसा पोचा बचाव करनेवाले उन्मार्ग–गामी उपदेशक गुरुओंसे ग्रंथकार कहते हैं कि एक व्यक्तिकी मृत्यु स्वयं हुई हो और दूसरी व्यक्तिकी मृत्यु किसी अन्यके द्वारा हुई हो इन दोनों घटनाओंमें बडा अन्तर है। पहली घटनाका कारण मरनेवाले व्यक्तिका कर्म मात्र है, इससे उसकी मृत्युके लिए दूसरा कोई दोषी नहीं है। परन्तु दूसरी घटनामें मरनेवाले व्यक्तिके कर्मके उपरान्त मारनेवालेका दुष्ट आशय भी नि-

मित्त है, इससे उस घटनाका दोषभागी मारनेवाला अवश्य है। इसी तरह जो लोग स्वयं अविधिसे धर्मक्रिया कर रहे हैं उनका दोष धर्मोपदेशकपर नहीं है, पर जो लोग अविधिमय धर्मक्रियाका उपदेश सुन कर उन्मार्गपर चलते हैं उनकी जवाबदेही उपदेशकपर अवश्य है। धर्मके जिज्ञासु लोगोंको अपनी क्षुद्र स्वार्थवृत्तिके लिए उन्मार्गका उपदेश करना वैसा ही विश्वासघात है जैसा शरणमें आये हुएका सिर काटना। जैसा चल रहा है ऐसा चलने दो यह दलील भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी उपेक्षा रखनेसे शुद्ध धर्मक्रियाका लोप हो जाता है जो वास्तवमें तीर्थोच्छेद है। विधिमार्गके लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहनेसे कभी किसी एक व्यक्तिको भी शुद्ध धर्म प्राप्त हो जाय तो उसको चौदह लोकमें अमारीपटह बजवानेकीसी धर्मोन्नति हुई समझना चाहिए अर्थात् विधि पूर्वक धर्मक्रिया करनेवाला एक भी व्यक्ति अविधि पूर्वक धर्मक्रिया करनेवाले हजारों लोगोंसे अच्छा है। अतएव जो परोपकारी धर्मगुरु हों उन्हें ऐसी दुर्बलताका आश्रय कभी न लेना चाहिये कि इसमें हम क्या करें? हम तो सिर्फ धर्मक्रियाका उपदेश करते हैं, अविधिका नहीं। धर्मोपदेशक गुरुओंको यह बात कभी न भूलनी चाहिए कि विधिका उपदेश भी उन्हींको देना चाहिये जो उसके श्रवणके लिये रसिक हों। अयोग्य पात्रको ज्ञान देनेमें भी महान् अनर्थ

होता है, इसलिए नीच आशयवाले पात्रको शास्त्र सुनानेमें उपदेशक ही अधिक दोषका पात्र है। यह नियम है कि पाप करनेवालेकी अपेक्षा पाप करानेवाला ही अधिक दोषभागी होता है। अतएव योग्यपात्रको शुद्ध शास्त्रोपदेश देना और स्वयं शुद्ध प्रवृत्ति करना यही तीर्थरक्षा है, अन्य सब बहाना मात्र है॥

उक्त चर्चा सुन कर मोटी बुद्धिके कुछ लोग यह कह उठते हैं कि इतनी बारीक बहसमें उतरना वृथा है, जो बहुतोंने किया हो वही करना चाहिए, इसके सबूतमें "महाजनो येन गतः स पन्थाः" यह उक्ति प्रसिद्ध है। आज कल बहुधा जीतव्यवहारकी ही प्रवृत्ति देखी जाती है। जबतक तीर्थ रहेगा तबतक जीतव्यवहार रहेगा इसलिए उसीका अनुसरण करना तीर्थ रक्षा है। इस कथनका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—

गाथा १६—लोकसंज्ञाको छोड़ कर और शास्त्रके शुद्ध रहस्यको समझ कर विचारशील लोगोंको अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिसे शुद्ध प्रवृत्ति करना चाहिए॥

खुलासा—शास्त्रकी परवा न रख कर गतानुगतिक लोकप्रवाहको ही प्रमाणभूत मान लेना यह लोकसंज्ञा है। लोकसंज्ञा क्यों छोड़ना? महाजन किसे कहते हैं और जीत-व्यवहारका मतलब क्या है? इन बातोंको समझानेके लिए

ज्ञानसारके जो श्लोक टीकामें उद्धृत किये गये हैं. वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए उनमेंसे कुछका सार दिया जाता है-

यदि लोगोंपर भरोसा रख कर ही कर्तव्यका निश्चय किया जाय अर्थात् जो बहुतोंने किया वही ठीक है ऐसा मान लिया जाय तो फिर मिथ्यात्व त्याज्य नहीं समझा जाना चाहिए. क्योंकि उसका सेवन अनेक लोक अनादि कालसे करते आये हैं।

अनार्योंसे आर्य थोड़े हैं, आर्योंमें भी जैनोंकी अर्थात् समभाववालोंकी संख्या कम है। जैनोंमें भी शुद्ध श्रद्धावाले कम, और उनमें भी शुद्ध चारित्रवाले कम हैं।

व्यवहार हो या परमार्थ, सब जगह उच्च वस्तुके अधिकारी कम ही होते हैं, उदाहरणार्थ—जैसे रत्नोंके परीक्षक (जौहरी) कम, वैसे आत्मपरीक्षक भी कम ही होते हैं।

शास्त्रानुसार वर्तन करनेवाला एक भी व्यक्ति हो तो वह महाजन ही है। अनेक लोग भी अगर अज्ञानी हैं तो वे सब मिल कर भी अन्धोंके समूहकी तरह वस्तुको यथार्थ नहीं जान सकते।

संविग्न (भवभीरु) पुरुषने जिसका आचरण किया हो, जो शास्त्रसे बाधित न हो और जो परम्परासे भी शुद्ध हो वही जीतव्यवहार है।

शास्त्रका आश्रय न करनेवाले असंविग्न पुरुषोंने जिसका आचरण किया हो वह अन्ध–परम्परा मात्र है, जीतव्यवहार नहीं।

क्रिया बिल्कुल न करनेकी अपेक्षा कुछ न कुछ क्रिया करनेको ही शास्त्रमें अच्छा कहा गया है, इसका मतलब यह नहीं कि शुरूसे अविधिमार्गमें ही प्रवृत्ति करना, किन्तु उसका भाव यह है कि विधिमार्गमें प्रवृत्ति करने पर भी अगर असावधानी वश कुछ भूल हो जाय तो उस भूलसे डर कर बिल्कुल विधिमार्गको ही नहीं छोड देना किन्तु भूल सुधारनेकी कोशीस करते रहना। प्रथमाभ्यासमें भूल हो जानेका सम्भव हैं पर भूल सुधारलेनेकी दृष्टि तथा प्रयत्न हो तो वह भूल भी वास्तवमें भूल नहीं है। इसी अपेक्षासे अशुद्ध क्रियाको भी शुद्ध क्रियाका कारण कहा है। जो व्यक्ति विधिका बहुमान न रख कर अविधिक्रिया किया करता है उसकी अपेक्षा तो विधिके प्रति बहुमान रखनेवाला पर कुछ भी न करनेवाला अच्छा है॥

मूल विषयका उपसंहार करते हैं—

गाथा १७—प्रस्तुत विषयमें प्रासंगिक विचार इतना ही काफी है। स्थान आदि पूर्वोक्त पाँच योगोंमें जो प्रयत्नशील हों उन्हींके चैत्यवन्दन आदि अनुष्ठानको सदनुष्ठानरूप समझना चाहिए॥

खुलासा—मुख्य बात चैत्यवन्दनमें स्थानादि योग घटानेकी चल रही थी, इसमें प्रसंगवश तीर्थोच्छेद क्या वस्तु है? और तीर्थरक्षाके लिए विधिप्ररूपणाकी कितनी आवश्यकता है? इत्यादि प्रासंगिक विषयकी चर्चा भी की गई। अब मूल बातको समाप्त करते हुए ग्रन्थकारने अन्तमें यही कहा है कि चैत्यवंदन आदि क्रिया धर्मका कलेवर अर्थात् बाह्यरूप मात्र है। उसकी आत्मा तो स्थान, वर्ण आदि पूर्वोक्त योग ही हैं। यदि उक्त योगोंमें प्रयत्नशील रह कर कोई भी क्रिया की जाय तो वह सब क्रिया शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम संस्कारोंकी पुष्टिका कारण हो कर सदनुष्ठानरूप होती है और अन्तमें कर्मक्षयका कारण बनती है ॥

सदनुष्ठानके भेदोंको दिखाते हुए उसके अन्तिम भेद अर्थात् असंगानुष्ठानमें अन्तिम योग (अनालम्बनयोग)का समावेश करते हैं—

गाथा १८—प्रीति, भक्ति, वचन और असंगके सम्बन्धसे यह अनुष्ठान चार प्रकारका समझना चाहिए। चारमेंसे असङ्गानुष्ठान ही चरम अर्थात् अनालम्बन योग है।

खुलासा—भावशुद्धिके तारतम्य (कमीबेशी) से एक ही अनुष्ठानके चार भेद हो जाते हैं। वे ये हैं—(१) प्रीति-अनुष्ठान, (२) भक्ति-अनुष्ठान, (३) वचनानुष्ठान, और (४) असङ्गानुष्ठान।

इनके लक्षण इस प्रकार हैं—(१) जिस क्रियामें प्रीति इतनी अधिक हो कि अन्य सब काम छोड कर सिर्फ़ उसी क्रियाके लिए तीव्र प्रयत्न किया जाय तो वह क्रिया प्रीति-अनुष्ठान है। (२) प्रीति–अनुष्ठान ही भक्ति–अनुष्ठान है। अन्तर दोनोंमें इतना ही है कि प्रीति–अनुष्ठानकी अपेक्षा भक्ति–अनुष्ठानमें आलम्बनरूप विषयके प्रति विशेष आदर-बुद्धि होनेके कारण प्रत्येक व्यापार अधिक शुद्ध होता है। जैसे पत्नी और माता दोनोंका पालन, भोजन, वस्त्र आदि एक ही प्रकारसे किया जाता है परन्तु दोनोंके प्रति भावका अन्तर है। पत्नीके पालनमें प्रीतिका भाव और माताके पालनमें भक्तिका भाव रहता है, वैसे ही बाहरी व्यापार समान होनेपर भी प्रीति–अनुष्ठान तथा भक्ति–अनुष्ठानमें भावका भेद रहता है। (३) शास्त्रकी ओर दृष्टि रख करके सब कार्योंमें साधु लोगोंकी जो उचित प्रवृत्ति होती है वह वचनानुष्ठान है। (४) जब संस्कार इतने दृढ हो जायँ कि प्रवृत्ति करते समय शास्त्रका स्मरण करनेकी आवश्यकता ही न रहे अर्थात् जैसे चन्दनमें सुगंध स्वाभाविक होती है वैसे ही संस्कारोंकी दृढताके कारण प्रत्येक धार्मिक नियम जीवनमें एकरस हो जाय तब असङ्गानुष्ठान होता है। इसके अधिकारी जिनकल्पिक साधु होते हैं। वचनानुष्ठान और असङ्गानुष्ठानमें फर्क इतना ही है कि पहला तो शास्त्रकी प्रेरणासे किया जाता है और दूसरा उसकी प्रेरणाके सिवाय

शास्त्रजनित संस्कारोंके बलसे; जैसे कि चाकके घूमनेमें पहला घूमाव तो डंडेकी प्रेरणासे होता है और पिछेका सिर्फ दंडजनित वेगसे। असङ्गानुष्ठानको अनालम्बन योग इसलिए कहा है कि-" संगको त्यागना ही अनालम्बन है "।

योगके कुल अस्सी भेद बतलाये हैं सो इस प्रकार—स्थान, ऊर्ण आदि पूर्वोक्त पाँच प्रकारके योगके इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि ऐसे चार चार भेद करनेसे बीस भेद हुए। इन बीसमेंसे हर एक भेदके प्रीति-अनुष्ठान, भक्ति-अनुष्ठान, वचनानुष्ठान और असङ्गानुष्ठान ये चार चार भेद होते हैं अतएव बीसको चारसे गुनने पर अस्सी भेद हुए ॥

आलम्बनके वर्णनके द्वारा अनालंबन योगका स्वरूप दिखाते हैं—

गाथा १६—आलम्बन भी रूपी और अरूपी इस तरह दो प्रकारका है। परम अर्थात् मुक्त आत्मा ही अरूपी आलम्बन है, उस अरूपी आलम्बनके गुणोंकी भावनारूप जो ध्यान है वह सूक्ष्म (अतीन्द्रिय विषयक) होनेसे अनालम्बन योग कहलाता है ॥

खुलासा—योगका ही दूसरा नाम ध्यान है। ध्यानके मुख्यतया दो भेद हैं, सालम्बन और निरालम्बन। आलम्बन (ध्येय विषय) मुख्यतया दो प्रकारका होनेसे ध्यानके उक्त दो भेद समझने चाहिए। आलम्बनके रूपी और अ-

रूपी ये दो प्रकार हैं। इन्द्रियगम्य वस्तुको रूपी (स्थूल) और इन्द्रिय-अगम्य वस्तुको अरूपी (सूक्ष्म) कहते हैं। स्थूल आलम्बनका ध्यान सालम्बन योग और सूक्ष्म आलम्बनका ध्यान निरालम्बन योग है, अर्थात् विषयकी अपेक्षासे दोनों ध्यानमें फर्क यह है कि पहलेका विषय आँखोंसे देखा जा सकता है और दूसरेका नहीं। यद्यपि दोनों ध्यानके अधिकारी छद्मस्थ ही होते हैं, परन्तु पहलेकी अपेक्षा दूसरेका अधिकारी उच्च भूमिकावाला होता है; अर्थात् पहले ध्यानके अधिकारी अधिकसे अधिक छट्ठे गुणस्थान तकके ही स्वामी होते हैं परन्तु दूसरे ध्यानके अधिकारी सातवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतकके स्वामी होते हैं।

आसनारूढ वीतराग प्रभुका या उनकी मूर्ति आदिका जो ध्यान किया जाता है वह सालम्बन और परमात्माके ज्ञान आदि शुद्ध गुणोंका या संसारीआत्माके औपाधिक रूपको छोड कर उसके स्वाभाविक रूपका परमात्माके साथ तूलना पूर्वक ध्यान करना निरालम्बन ध्यान है; अर्थात् निरालम्बन ध्यान आत्माके तात्त्विक स्वरूपको देखनेकी निःसंग और अखंड लालसारूप है। ऐसी लालसा क्षपकश्रेणी सम्बन्धी दूसरे अपूर्वकरणके समय पाये जानेवाले धर्मसंन्यासरूप सामर्थ्ययोगसे होती है।

हरिभद्रसूरिने षोडशकमें बाणमोचनके एक रूपकके द्वारा अनालंबन ध्यानका स्वरूप समझाया है सो इस प्र-

कार है—क्षपकआत्मारूप धनुर्धर, क्षपकश्रेणिरूप धनुषके ऊपर अनालम्बनयोगरूप बाणको परमात्मतत्त्वरूप लक्ष्यके सम्मुख इस तरह चढाता है कि बाण छूटनेरूप अनालम्बन ध्यानकी समाप्ति (जिसको शास्त्रमें ध्यानान्तरीका कहते हैं) होते ही लक्ष्यवेधरूप परमात्मतत्त्वका प्रकाश होता है, यही केवलज्ञान है जो अनालम्बन ध्यानका फल है। आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके पूर्वमें जबतक उसकी प्रबल आकाङ्क्षा थी तबतकका विशिष्ट प्रयत्न निरालम्बन ध्यान है, परन्तु केवलज्ञान होनेपर आत्मतत्त्वके साक्षात्कारकी इच्छा न रहनेसे अनालम्बन ध्यान नहीं है तो भी आत्मतत्त्वविषयक केवलज्ञानरूप प्रकाशको सालम्बन योग कह सकते हैं। यहाँ यह जानना चाहिए कि केवलिअवस्था प्राप्त होनेके बाद जबतक योग निरोधके लिए प्रयत्न नहीं किया जाता तबतककी स्थितिको एक प्रकारकी-विश्रान्ति मात्र कह सकते हैं, ध्यान नहीं; क्योंकि ध्यान विशिष्ट प्रयत्नका नाम है जो केवलज्ञानके पहले या योगनिरोध करते समय होता है॥

उक्त रीतिसे सालम्बन, निरालम्बन ध्यानका वर्णन करके अब निरालम्बन ध्यानसे होनेवाले फलोंको क्रमसे दिखाते हैं—

गाथा २०—इस निरालम्बन ध्यानके सिद्ध हो जाने पर मोहसागर पार हो जाता है यही क्षपकश्रेणीकी सिद्धि

है, इस सिद्धिसे केवलज्ञान और केवलज्ञानसे अयोग नामक योग तथा परम निर्वाण क्रमशः होता है ॥

खुलासा—मोहकी रागद्वेषरूप वृत्तियाँ पौद्गलिक अभ्यासका परिणाम है और निरालम्बन ध्यानका विषय शुद्ध चैतन्य है। अतएव मोह और निरालम्बन ध्यान ये दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। निरालम्बन ध्यानका आरम्भ हुआ कि मोहकी जड कटने लगी, जिसको जैनशास्त्रमें क्षपकश्रेणीका आरम्भ कहते हैं। जब उक्त ध्यान पूर्ण अवस्था तक पहुँचता है तब मोहका पाशबंधन सर्वथा टूट जाता है, यही क्षपकश्रेणीकी पूर्णाहुति है। महर्षि पतञ्जलिने जिस ध्यानको सम्प्रज्ञात कहा है वही जैनशास्त्रमें निरालम्बन ध्यान है। क्षपकश्रेणीके द्वारा सर्वथा वीतराग दशा प्रकट हो जाने पर आत्मतत्त्वका पूर्ण साक्षात्कार होता है, जो जैनशास्त्रमें केवलज्ञान और महर्षि पतञ्जलिकी भाषामें असम्प्रज्ञात योग कहलाता है। केवलज्ञान हुआ कि मानसिक वृत्तियाँ नष्ट हुई और पीछे एक ऐसी अयोग नामक योगावस्था आती है जिससे रहे-सहे वृत्तिके बीजरूप सूक्ष्म संस्कार भी जल जाते हैं, यही विदेह मुक्ति या परम निर्वाण है ॥

॥ समाप्त ॥

योगसूत्रवृत्ति तथा योगविंशिकावृत्तिमें प्रमाण-रूपसे आये हुए अवतरणोंका वर्ण-क्रमानुसारी परिशिष्ट. नं० १

योगसूत्रवृत्ति और योगविंशिकाटीकामें आये हुए अवतरणों-का कर्त्ता और ग्रंथके नाम निर्देश संबंधी परिशिष्ट. २

(¹आर्ष)—

(आचारांगसूत्र पत्र ६)

शीतोष्णीयाध्ययन (आचारांगगत) पत्र ३७।

स्थानाङ्ग पत्र १९।

(भगवतगीता पत्र २५)

गच्छाचार पत्र ८०।

महावादी—

(सिद्धसेन दिवाकर)—(द्वात्रिंशिका पत्र २९।)

स्तुतिकार[2]—पत्र ३७

(कुन्दकुन्द)—

(प्रवचनसार) पत्र ८७ 'जो जाणइ अरिहंते०' प्र-१ गा-८४।

भाष्यकृत्—

(जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण)-(विशेषावश्यक पत्र ४।)

महाभाष्यकार—

(जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण)-(विशेषावश्यक पत्र ८६।)

---

१ ऐसे कोष्ठकसे हमारा मतलब यह है कि—उस उस स्थानमें ग्रंथकारने आचार्य या ग्रंथका उल्लेख नहीं किया किन्तु हमने अपनी ओरसे खोज करके सूचन किया है।

२ इस स्तुतिकार शब्दसे ग्रंथकारको सिद्धसेन अभिप्रेत है या समन्तभद्र, इसका पता हमें अभी नहीं लगा।

पुस्तक मिलनेका पता—

आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल.

ठि० रोशन मुहल्ला,

आग्रा शहर (यू. पी.)

श्री जैन आत्मानन्द सभा.

ठि० आत्मानन्द भवन—

भावनगर—(काठियावाड).